पच्चीस बोल

(मूल, अर्थ, विवेचन एवं प्रश्नोत्तर सहित)

:: प्रकाशक ::

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(सरंक्षक : अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

पच्चीस बोल

(मूल, अर्थ, विवेचन एवं प्रश्नोत्तरी सहित)

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

संकलन

सुनीता मेहता

सम्पादक

धर्मचन्द जैन

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(संरक्षक : अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

पुस्तक :

पच्चीस बोल

(मूल, अर्थ, विवेचन एवं प्रश्नोत्तरी सहित)

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर,

बापू बाजार, जयपुर–3 (राज.)

फोन : 0141–2575997, 2571163

फैक्स : 0141–4068798

Email : sgpmandal@yahoo.in

ग्यारहवाँ संस्करण : 2016

संकलन : **सुनीता मेहता**

सम्पादक : **धर्मचन्द जैन**

मुद्रित प्रतियाँ : 2100

मूल्य : **10.00/–** (दस रुपये)

लेज़र टाइपसेटिंग :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

मुद्रक : **दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर**

अन्य प्राप्ति स्थल :

❒ **श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ**
घोड़ों का चौक, **जोधपुर–342001**
(राजस्थान)
फोन : 0291–2624891

❒ **Shri Navratan ji Bhansali**
C/o. Mahesh Electricals,
14/5, B.V.K. Ayangar Road,
BANGALURU-560053
(Karnataka)
Ph. : 080-22265957
Mob. : 09844158943

❒ **Shri B. Budhmal ji Bohra**
211, Akashganga Apartment,
19 Flowers Road, Kilpauk,
CHENNAI-600010 (TND)
Ph. : 044-26425093
Mob. : 09444235065

❒ **श्रीमती विजयानन्दिनी जी मल्हारा**
''रत्नसागर'', कलेक्टर बंगला रोड़,
चर्च के सामने, 491–ए, प्लॉट नं. 4,
जलगाँव–425001 (महा.)
फोन : 0257–2223223

❒ **श्री दिनेश जी जैन**
1296, कटरा धुलिया, चाँदनी चौक,
दिल्ली–110006 (दिल्ली) फोन : 011–23919370, मो. 09953723403

प्रकाशकीय

जैन–धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। इस धर्म को समझने के लिए अनेक बातों का ज्ञान होना आवश्यक है, ताकि इसके महत्त्वपूर्ण पक्षों को समझा जा सके। जैन–धर्म में विशाल आगम–साहित्य उपलब्ध है, जिसका अध्ययन करना प्राय: श्रमसाध्य एवं अधिक समय लेने वाला है। जैनागमों की प्रमुख विशेषताओं को संक्षिप्त रूप में 'पच्चीस बोल' के माध्यम से जाना जा सकता है।

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के प्रवचनों में तात्त्विक विवेचन में 25 बोल एक प्रमुख विषय होता है। इस हेतु सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा पच्चीस बोल की पुस्तक का मूल, अर्थ, विवेचन एवं प्रश्नोत्तरी सहित सर्वप्रथम प्रकाशन अप्रैल 1998 में किया गया था। अब इसका ग्यारहवाँ संस्करण 2016 में प्रकाशित करते हुए हमें प्रमोद का अनुभव हो रहा है।

पुस्तक का संकलन–कार्य श्रीमती सुनीता जी मेहता, जोधपुर ने बहुत मेहनत व लगन के साथ किया है, जिससे यह पुस्तक बहूपयोगी बन गयी है। सम्पादन–कार्य श्री धर्मचन्द जी जैन–रजिस्ट्रार ने किया है। इसका प्रूफ संशोधन मण्डल में आध्यात्मिक शिक्षा समिति में सेवारत श्री राकेश कुमारजी जैन ने तथा लेज़र टाइपसैटिंग श्री प्रहलाद नारायण जी लखेरा ने की। एतदर्थ मण्डल इन सभी का आभारी है। इसके लिए उन्हें भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक सभी के लिए पठनीय, मननीय एवं उपयोगी सिद्ध होगी। इस पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए पाठकों एवं प्रबुद्ध जनों के सुझावों का सदैव स्वागत है।

:: निवेदक ::

पारसचन्द हीरावत	प्रमोदचन्द मोहनोत	विनयचन्द डागा
	पदमचन्द कोठारी	
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

प्रस्तावना

इस विराट् संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। चाहता ही नहीं वरन्, सुख–प्राप्ति के लिए दिन–रात मेहनत भी करता है परन्तु फिर भी उसे सच्चा एवं स्थायी सुख प्राप्त नहीं हो पाता। अज्ञान और मोह के कारण प्राणी इन्द्रिय विषयों में प्राप्त क्षणिक रागात्मक सुखाभास को ही सच्चा सुख मानने लग जाता है तथा उन्हीं–उन्हीं विषयों की प्राप्ति में दौड़ लगाता रहता है। परिणामस्वरूप उसे आत्मिक सुख की अनुभूति हो ही नहीं पाती।

आत्मिक सुख की प्राप्ति हेतु तत्त्वज्ञान एवं सिद्धान्त बोध होना आवश्यक है क्योंकि बिना तत्त्व ज्ञान एवं सिद्धान्त बोध के दृढ़ श्रद्धान नहीं हो पाता तथा बिना दृढ़ श्रद्धान के आचरण सम्यक् नहीं बन पाता है। तत्त्वज्ञान हेतु यद्यपि अंग–उपांग–मूल और छेद सूत्र आदि 32 आगम शास्त्रों में विशद् विवेचन किया गया है परन्तु आगम शास्त्रों को सही रूप में पढ़ लेना, उनके अर्थ एवं मर्म को हृदयंगम कर लेना अधिकांश लोगों के लिए कठिन होता है। अत: आचार्यों ने महती कृपा कर जिज्ञासु एवं मुमुक्षु बन्धुओं के लिए आगम के सारांश रूप में सरल भाषा में थोकड़ों का निर्माण किया।

थोकड़ों के सीखने एवं पढ़ने का भी एक क्रम होता है। व्यक्ति को सर्वप्रथम ऐसा थोकड़ा सीखना एवं समझना चाहिए जिससे धार्मिक रुचि जागृत हो तथा तत्त्व बोध होने के साथ जीवन नैतिक, प्रामाणिक एवं सदाचारमय हो तथा ज्ञान–दर्शन–चारित्र और तपाराधना में भी कदम आगे बढ़ सके। इस

अपेक्षा से 25 बोल का थोकड़ा सर्वाधिक उपयोगी है, यह जैन धर्म को समझने का प्रवेश द्वार भी कहलाता है। पच्चीस बोल का थोकड़ा सभी थोकड़ों का मूल होने के कारण भी इसे सर्वप्रथम सीखने–सिखाने की परम्परा है। जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा को पढ़ने–लिखने के लिए ए, बी, सी, डी आदि का ज्ञान पहले अनिवार्य होता है। गणित सीखने के लिए अंकों का ज्ञान तथा जोड़, बाकी, गुणा व भाग का ज्ञान अनिवार्य होता है ठीक उसी प्रकार जैन धर्म की बहुविध विशेषताओं को जानने के लिए पच्चीस बोल का थोकड़ा सबसे पहले पढ़ना–सीखना अनिवार्य है। एक दृष्टि से यह जैन–दर्शन की कुञ्जी है।

जिन किन्हीं भी आचार्य ने इस थोकड़े का निर्माण किया वे वस्तुत: धन्य हैं, उपकारी हैं, क्योंकि उन्होंने अनेक शास्त्रों में से ऐसे 25 बोल संगृहीत किये हैं मानों आगम रूपी सागर में से थोकड़ा रूपी अमृत का भरा हुआ कलश ही हमारे पीने के लिए प्रस्तुत कर दिया हो।

मोक्ष की साधना के लिए उसके साधक एवं बाधक तत्त्वों की समुचित जानकारी आवश्यक है। पच्चीस बोल का थोकड़ा ऐसा सूत्रात्मक लघु ग्रन्थ है जिसको हृदयंगम कर ज्ञान–दर्शन–चारित्र की गहराई में उतरा जा सकता है और इसके माध्यम से आगम–ग्रन्थों के विशाल सागर का मंथन किया जा सकता है।

25 बोलों की संक्षिप्त जानकारी-

पहले बोल में गति के आधार पर संसारी जीवों के चार भेद किये हैं। **दूसरे** बोल में इन्द्रियों के आधार पर जाति का वर्गीकरण किया गया है। **तीसरे** बोल में शरीर के आधार पर समूह बनाये गये हैं। **चौथे** बोल में ज्ञान प्राप्ति के साधन इन्द्रियों की जानकारी बतलायी गयी है। **पाँचवें** बोल में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूप में परिणत करने वाली शक्तियाँ–

पर्याप्तियों का कथन करके **छट्ठे** बोल में जीवन शक्ति प्राण का विवेचन किया है। **सातवें** बोल में शरीर के प्रकार तथा **आठवें** बोल में मन–वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग का कथन किया है। **नवमें** बोल में आत्मा के मूल गुण उपयोग का विवेचन करते हुए आत्मिक गुणों को अवतरित, प्रभावित करने वाले कर्मों का **दसवें** बोल में कथन किया है। **ग्यारहवें** बोल में मोह और योग के निमित्त से उत्पन्न आत्म–विकास की श्रेणियाँ–गुणस्थान का विवेचन किया गया है। आत्म–विकास में बाधक बनने वाले विषय एवं विकारों की चर्चा **बारहवें** बोल में की गयी है।

तेरहवें बोल में देव–गुरु–धर्म एवं आत्म स्वरूप के यथार्थ श्रद्धान में बाधक बनने वाले मिथ्यात्व के दस भेदों का विवेचन करके **चौदहवें** बोल में मोक्ष प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक नव तत्त्वों का विवेचन किया गया है। **पन्द्रहवें** बोल में आत्मा के विशिष्ट गुणों की अवस्थाओं के आधार पर आत्मा के आठ भेदों की चर्चा की गयी है। जबकि **सोलहवें** बोल में संसारी जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने के स्थान दण्डकों का कथन किया गया है। **सतरहवें** बोल में कषाय और योग से अनुरंजित परिणाम, षड्–विध लेश्याओं का विवेचन किया गया है। **अठारहवें** बोल में तीन दृष्टियों का कथन करके **उन्नीसवें** बोल में चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान के चार भेदों को समझाया गया है। **बीसवें** बोल में धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल इन छह द्रव्यों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से विवेचन किया गया है। **इक्कीसवें** बोल में जीव और अजीव राशि के भेदों को विस्तार से बतलाया गया है।

बावीसवें बोल में श्रावक–श्राविकाओं के लिए समाचरणीय बारह व्रतों का विवेचन करके **तेइसवें** बोल में साधु–साध्वियों के लिए तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए अनिवार्यत: पालनीय महाव्रतों का विवेचन किया गया है।

चौवीसवें बोल में व्रत–नियमों को श्रावक–श्राविकाएँ जिन–जिन करण–योग से ग्रहण करते हैं, उन 49 भंगों की जानकारी देकर अन्त में **पच्चीसवें** बोल में चतुर्गति रूप संसार के जन्म–मरण से स्थायी मुक्ति दिलाने वाले पंचविध चारित्र का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस थोकड़े में त्रस–स्थावर, सूक्ष्म–बादर, अपर्याप्त–पर्याप्त, असन्नी–सन्नी, संसारी–सिद्ध आदि जीव की सभी पर्यायों का विवेचन कर अन्त में जीव की परम शुद्ध पर्याय सिद्ध स्वरूप को पाने का उपाय चारित्र पाँच के माध्यम से बतलाया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में सभी बोलों के सभी भेद–उपभेद का सरल शब्दों में विवेचन करने का प्रयास किया गया है। साथ ही एक–एक बोल से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरी भी दी गयी हैं।

पच्चीस बोल के बारे में परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा., उपाध्याय प्रवर श्री मानचन्द्रजी म.सा., महान् अध्यवसायी श्री महेन्द्रमुनिजी म.सा. व तत्त्व चिन्तक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. आदि से जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ उसी के फलस्वरूप मैं यह पुस्तक तैयार कर पायी हूँ। अत: यह पुस्तक इन्हीं गुरुजनों की कृपा का फल है। साथ ही पुस्तक के सम्पादन में श्री धर्मचन्द जी जैन, रजिस्ट्रार–आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। जिसके लिए मैं उनकी विशेष आभारी हूँ।

आशा है स्वाध्याय रसिक धर्म प्रेमी भाई–बहिन इस पुस्तक का पठन कर जीवन को ज्ञान–दर्शन–चारित्र और तप रूप धर्म से जोड़ने में सफल सिद्ध हो सकेंगे। यह मेरा प्रथम प्रयास है तथा मेरी अल्प बुद्धि से इसमें त्रुटियाँ रहना भी सम्भव है। आप सभी प्रबुद्ध विद्वानों व पाठकों से नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक में रही हुई कमियों–त्रुटियों से अवगत कराने की कृपा करावें जिससे इस पुस्तक को भविष्य में और अधिक समृद्ध किया जा सके।

–सुनीता मेहता

पच्चीस बोल

जैन धर्म की और उसके सिद्धान्तों की विशेष जानकारी करने के लिए 25 बोल के थोकड़े का ज्ञान होना जरूरी है। पूर्वाचार्यों ने आगम शास्त्रों में से ऐसे अनमोल रत्न पिरोकर एक माला हमें प्रदान की है जिसे यदि समझपूर्वक धारण कर लें तो हम अपने इस मनुष्य जीवन को सफल बना सकते हैं।

संसार में मूल दो तत्त्व हैं–जड़ और चेतन। चराचर सम्पूर्ण जगत इन्हीं दो मूलभूत तत्त्वों का विस्तार है। संसारी जीव अनन्त काल के कर्मानुसार एक पर्याय से दूसरी पर्याय में गमन करता है। जीव–अजीव तत्त्वों की अनेक अपेक्षाओं से पच्चीस बोल के थोकड़े में विवेचना की गई है। सबसे पहले संसारी जीवों की गतियों के आधार पर विवेचना की गयी है।

(1) पहले बोले गति चार–1. नरकगति, 2. तिर्यञ्चगति, 3. मनुष्यगति, 4. देवगति।

◆ **आधार–** 1. स्थानांग सूत्र का चौथा ठाणा, 2. जीवाजीवाभिगम सूत्र की चतुर्थ प्रतिपत्ति, 3. पन्नवणा सूत्र का 23वाँ पद, 4. उत्तराध्ययन सूत्र का 36वाँ अध्ययन।

गति–गमन करना अथवा चलना। संसारी जीवों का एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाना 'गति' कहलाती है। गति मुख्य रूप से चार हैं–नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति।

1. नरक गति–

(i) जहाँ पर जीव अपने द्वारा संचित अशुभ कर्मों का असाता रूप भयंकर फल अधिक भोगता हो उसे 'नरक गति' कहा गया है।

(ii) जहाँ पर जीवों को तीन प्रकार की वेदना अधिक भोगनी पड़ती है उसे भी 'नरक गति' कहा गया है। तीन प्रकार की वेदना इस प्रकार है–

(क) क्षेत्र वेदना–यह स्थान सम्बन्धी वेदना है। नारकी के जीवों को 1. अनन्त भूख, 2. अनन्त प्यास, 3. अनन्त शीत, 4. अनन्त उष्ण, 5. अनन्त ज्वर, 6. अनन्त खुजली, 7. अनन्त रोग, 8. अनन्त अनाश्रय, 9. अनन्त शोक और 10. अनन्त भय, ये दस प्रकार की वेदना भोगनी पड़ती हैं।

(ख) देवकृत वेदना–तीसरी नारकी तक के जीवों को परमाधामी देवों के द्वारा अनन्त दु:ख देने से होने वाली वेदना देवकृत वेदना है।

(ग) परस्परकृत वेदना–नारकी के जीव परस्पर एक–दूसरे से लड़–झगड़कर दु:खी होते रहते हैं।

2. तिर्यञ्च गति–

(i) प्राय: तिरछे लोक में रहने वाले जीवों की गति को 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं। इनको नरक जैसा अधिक दु:ख और देव जैसा अधिक सुख दोनों ही नहीं होते।

(ii) जिन जीवों का शरीर प्राय: तिरछा–टेढ़ा–मेढ़ा होता है, उन जीवों की गति को भी 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं।

जिस गति में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँचों जाति के जीव पाये जाते हों उसे भी 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं।

3. मनुष्य गति–

जिन जीवों में हेय, ज्ञेय, उपादेय के बारे में चिन्तन मनन करने की शक्ति हो, जिस गति में आत्मा पर लगे सभी कर्मों को तप संयम के द्वारा क्षय किया जा सकता हो उसे 'मनुष्य गति' कहते हैं। 'मननात् करोति इति मनुष्य:' अर्थात्–मनन करने से मनुष्य होता है।

मनुष्य गति के जीव उत्थान और पतन दोनों प्रकार की क्षमता रखते हैं अर्थात् अशुभ कर्मों के द्वारा पतन तथा शुभ कर्मों के द्वारा उत्थान करने में भी स्वतन्त्र हैं। संक्षेप में मनुष्य मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं–-कर्मभूमिज, -अकर्मभूमिज, -सम्मूर्च्छिम। ये अधिकांशत: मध्यलोक में अढ़ाई द्वीपों में रहते हैं अत: अढ़ाई द्वीपों को मनुष्य लोक भी कहा गया है।

4. देव गति–

जहाँ पर जीव अपने किये हुए कर्मों का सातारूप फल अधिक भोगते हैं तथा अनेक प्रकार की दिव्य भौतिक ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं उसे 'देव गति' कहते हैं। देवता चार प्रकार के होते हैं–(i) भवनपति, (ii) वाणव्यन्तर, (iii) ज्योतिषी और (iv) वैमानिक।

चार गतियों में मनुष्य गति ही श्रेष्ठ क्यों? चार गति के जीवों में श्रुत व चारित्र धर्म के अधिकारी मनुष्य गति के जीव होते हैं। नरक गति के जीवों को अनन्त वेदना सहनी पड़ती है। वहाँ अधिक से अधिक समता रखें तो सम्यक्त्व को अर्थात् अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त कर सकते

हैं। देवगति में भोगविलास के साधन अधिक हैं। वहाँ पर यदि सजगता रहे तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। चारित्र को अंशमात्र भी ग्रहण नहीं कर पाते।

तिर्यञ्च गति के जीवों में जो समनस्क हैं, वे श्रावक धर्म की आराधना कर सकते हैं, परन्तु श्रमण धर्म के अधिकारी वे भी नहीं होते। मनुष्य में सम्यग्दृष्टि, श्रावक और साधु इन तीनों पदों की साधना की जा सकती है।

कर्माधीन प्राणी चार गति चौरासी लाख जीवयोनि में अनन्त–अनन्त बार जन्म–मरण कर चुका है। उससे मुक्त होने का मार्ग 'श्रमण धर्म' मनुष्य गति में ही साधा जा सकता है। इसलिए मनुष्य गति को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

प्रश्न– एक गति कहाँ मिलती है?

उत्तर– साधु में, (मनुष्य)।

प्रश्न– दो गति कहाँ मिलती हैं?

उत्तर– श्रावक में, (मनुष्य और तिर्यञ्च)।

प्रश्न– तीन गति कहाँ मिलती है?

उत्तर– पुरुष वेद में, (नरक को छोड़कर) क्योंकि नरक गति के जीव एकान्त नपुंसक वेद वाले होते हैं।

प्रश्न– चार गति कहाँ मिलती है?

उत्तर– नीचे लोक में। क्योकि महाविदेह क्षेत्र में सलिलावती विजय तथा वप्राविजय का कुछ भाग नीचे लोक में गया हुआ है वहाँ पर मनुष्य भी रहते हैं। इस अपेक्षा से चारों गति नीचे लोक में पायी जाती है।

(2) दूसरे बोले जाति पाँच–1. एकेन्द्रिय, 2. बेइन्द्रिय, 3. तेइन्द्रिय, 4. चउरिन्द्रिय, 5. पंचेन्द्रिय।

◆ **आधार**–पन्नवणा 23वाँ पद, उद्देशक दूसरा।

जाति–इन्द्रियों के आधार पर जीवों के बनाये हुए समूह को 'जाति' कहते हैं। अर्थात् समान इन्द्रियों वाले जीवों के समूह को 'जाति' कहते हैं। जीवों की मूल जातियाँ पाँच हैं। जैसे–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

(i) **एकेन्द्रिय**–जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही हो, ऐसे जीवों के समूह को 'एकेन्द्रिय' जाति कहते हैं। एकेन्द्रिय में पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पतिकाय के सभी जीवों का समावेश हो जाता है।

(ii) **बेइन्द्रिय**–जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हों ऐसे जीवों के समूह को 'बेइन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे कृमि, लट, शंख, सीप, नारू, अलसिया आदि।

(iii) **तेइन्द्रिय**–जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीनों इन्द्रियाँ हो ऐसे जीवों के समूह को 'तेइन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे चींटी, खटमल, जूँ, लीख, सुलसुली, इली, कुंथुआ आदि।

(iv) **चउरिन्द्रिय**–जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चारों इन्द्रियाँ हों, उन जीवों के समूह को 'चउरिन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे–मक्खी, मच्छर, बिच्छु, भंवरा, कसारी आदि।

(v) **पंचेन्द्रिय**–जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों

इन्द्रियाँ हों, ऐसे जीवों के समूह को 'पंचेन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे– पशु, पक्षी, मछली, सर्प, मनुष्य, नारक, देवता आदि।

इस संसार के सभी जीव उपर्युक्त पाँचों जातियों में आ जाते हैं।

जाति का यह बोल हमें सभी जीवों के प्रति आत्मौपम्य भाव रखने की प्रेरणा देता है, क्योंकि सभी जाति के जीवों में एक समान आत्मा रही हुई है। वैदिक दर्शन की जाति–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र ये मनुष्य के भेद हैं जबकि जैन दर्शन में जाति के अन्तर्गत समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है, जिसमें जैन दर्शन की व्यापकता परिलक्षित होती है।

प्रश्न– एक जाति कहाँ मिलती है?

उत्तर– स्थावर में, (एकेन्द्रिय)।

प्रश्न– दो जाति कहाँ मिलती हैं?

उत्तर– वैक्रिय शरीर में, (एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय)। वायुकाय में वैक्रिय शरीर होने की अपेक्षा से एकेन्द्रिय और नारकी व देवताओं में वैक्रिय शरीर होने की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय जाति।

प्रश्न– तीन जाति कहाँ मिलती है?

उत्तर– विकलेन्द्रिय में, (प्रथम व अन्तिम जाति को छोड़कर)।

प्रश्न– चार जाति कहाँ मिलती है?

उत्तर– त्रस में, (एकेन्द्रिय को छोड़कर)।

प्रश्न– पाँच जाति कहाँ मिलती है?

उत्तर– तिर्यञ्च में, (सभी पाँचों)।

(3) तीसरे बोले काय छह–1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेजस्काय, 4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय, 6. त्रसकाय।

◆ **आधार**–ठाणांग सूत्र, ठाणा 6, सूत्र 480, दशवै.अ.4।

काय–शरीर के आधार पर जीवों के बनाये हुए समूह को 'काय' कहते हैं। विभिन्न प्रकार के पुद्गलों से बने शरीरों के द्वारा जीव के जो विभाग होते हैं उन्हें 'काय' कहते हैं। काय सब जीवों की आधार है। वह छः प्रकार की होती है–

(i) **पृथ्वीकाय**–पृथ्वीरूप ही जिन जीवों का शरीर है उनकी काय को 'पृथ्वीकाय' कहते हैं। जैसे–सोना, चाँदी, शीशा, लोहा, ताम्बा, कोयला, कंकर पत्थर आदि।

(ii) **अप्काय**–पानीरूप ही जिन जीवों का शरीर है उनकी काय को 'अप्काय' कहते हैं। जैसे–कुएँ, तालाब, बावड़ी, नदी, नलकूप, ओस, बरसात आदि का पानी।

(iii) **तैजस्काय**–अग्निरूप ही जिन जीवों का शरीर है उनकी काय को 'तेउकाय' कहते हैं। जैसे–विद्युत, सेल, चूल्हे आदि की अग्नि।

(iv) **वायुकाय**–वायुरूप ही जिन जीवों का शरीर है उनकी काय को 'वायुकाय' कहते हैं। जैसे–सभी प्रकार की हवा।

(v) **वनस्पतिकाय**–वनस्पतिरूप ही जिन जीवों का शरीर है उनकी काय को 'वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे लीलोती, लीलन, फूलण आदि।

(vi) **त्रसकाय**–हलन–चलन करने वाले जीवों के शरीर को 'त्रसकाय'

कहते हैं। अथवा सुख पाने व दुःख से बचने के लिए जो विशेष प्रयत्न कर सके, उन्हें भी त्रस कहते हैं।

पृथ्वीकाय आदि की गणना जीवों के आधार पर की जाती है। यदि उनमें जीव नहीं हो अर्थात् यदि पृथ्वी आदि अचित्त हो जाय तो उन्हें सम्बन्धित काय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

प्रश्न– एक काय किनमें मिलती है?

उत्तर– साधु में, (त्रस)।

प्रश्न– दो काय किनमें मिलती हैं?

उत्तर– वैक्रिय शरीर में, (वायु, त्रस)।

प्रश्न– तीन काय किनमें मिलती है?

उत्तर– तेजोलेशी एकेन्द्रिय में, (पृथ्वी, अप् तथा वनस्पति के अपर्याप्त की अपेक्षा से)।

प्रश्न– चार काय किनमें मिलती है?

उत्तर– सत्त्व में, (पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु)।

प्रश्न– पाँच काय किनमें मिलती है?

उत्तर– स्थावर में, (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं वनस्पति)।

प्रश्न– छः काय किनमें मिलती है।

उत्तर– तिर्यञ्च में।

(4) चौथे बोले इन्द्रिय पाँच–1. श्रोत्रेन्द्रिय, 2. चक्षुरिन्द्रिय, 3. घ्राणेन्द्रिय, 4. रसनेन्द्रिय, 5. स्पर्शनेन्द्रिय।

इन्द्रिय–शरीर के जिन अवयवों से शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि

का ज्ञान होता हो उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। संसारी जीवों के ज्ञान प्राप्ति के साधन को 'इन्द्रिय' कहते हैं। जीव 'इन्द्र' कहलाता है अत: इन्द्र के चिह्न को भी 'इन्द्रिय' कहते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं–

(i) **श्रोत्रेन्द्रिय**–जीव जिसके द्वारा जीव, अजीव और मिश्र शब्दों को ग्रहण करके अथवा सुनकर के ज्ञान प्राप्त करता है उसे 'श्रोत्रेन्द्रिय' कहते हैं।

(ii) **चक्षुरिन्द्रिय**–जीव जिसके द्वारा रूप अर्थात्–काला, नीला, लाल, पीला और सफेद वर्ण को ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करता है उसे 'चक्षुरिन्द्रिय' कहते हैं।

(iii) **घ्राणेन्द्रिय**–जीव जिसके द्वारा सुगन्ध व दुर्गन्ध को ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करता है उसे 'घ्राणेन्द्रिय' कहते हैं।

(iv) **रसनेन्द्रिय**–जीव जिसके द्वारा तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा, इन पाँच प्रकार के रस को ग्रहण करता है उसे 'रसनेन्द्रिय' कहते हैं।

(v) **स्पर्शनेन्द्रिय**–जीव जिसके द्वारा पदार्थ (पुद्‌गल) में रहे हुए खुरदरा, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म और लुखा, चिकना इन आठ प्रकार के स्पर्श को ग्रहण करता है उसे 'स्पर्शनेन्द्रिय' कहते हैं।

एकेन्द्रिय में एक–स्पर्शनेन्द्रिय, बेइन्द्रिय में दो–स्पर्शन और रसना, तेइन्द्रिय में तीन–घ्राणेन्द्रिय बढ़ी, चउरिन्द्रिय में चार–चक्षु इन्द्रिय के मिलाने पर व पंचेन्द्रिय में समस्त पाँचों इन्द्रियाँ होती है। संसारस्थ जीवों में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो सर्वथा इन्द्रियों से रहित हो। एकेन्द्रिय जीवों का आहार, श्वास ग्रहण आदि क्रियाएँ स्पर्शनेन्द्रिय से ही होती है।

प्रश्न– एक इन्द्रिय किनमें मिलती है?

उत्तर– पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर में, (स्पर्शन)।

प्रश्न– दो इन्द्रियाँ किनमें मिलती हैं?

उत्तर– लट, शीप, शंख आदि में, (स्पर्शन, रसना)।

प्रश्न– तीन इन्द्रियाँ किनमें मिलती हैं?

उत्तर– कीड़ी, मकोड़ा में, (स्पर्शन, रसना एवं घ्राण)।

प्रश्न– चार इन्द्रियाँ किनमें मिलती हैं?

उत्तर– मक्खी, मच्छर में, (स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु)।

प्रश्न– पाँच इन्द्रियाँ किनमें मिलती हैं ?

उत्तर– मनुष्य में, (सभी पाँचों इन्द्रियाँ)।

(5) पाँचवें बोले पर्याप्ति छह–1. आहार पर्याप्ति, 2. शरीर पर्याप्ति, 3. इन्द्रिय पर्याप्ति, 4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, 5. भाषा पर्याप्ति और 6. मन पर्याप्ति।

◆ **आधार**–भगवती सूत्र श. 3 उ. 1, प्रज्ञापना–28वाँ पद।

पर्याप्ति–पर्याप्तिः नाम शक्तिः। अर्थात्–परिणमन करने की शक्ति को 'पर्याप्ति' कहते हैं। वह शक्ति विशेष की पूर्णता जिससे जीव पुद्‌गल को ग्रहण करके उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रियादि रूपों में परिणत करता है, उसे 'पर्याप्ति' कहते हैं। पर्याप्ति के छः भेद इस प्रकार है–

(i) **आहार पर्याप्ति**–आहार के पुद्‌गलों को ग्रहण करके खल व रस के रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'आहार पर्याप्ति'

कहते हैं। खल का अर्थ है–सार रहित भाग और रस का अर्थ है–सार भाग।

(ii) **शरीर पर्याप्ति**–रस रूप में परिणत पुद्‌गलों को सप्त धातु रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'शरीर पर्याप्ति' कहते हैं। सप्त धातु–रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य। इसी प्रकार वैक्रिय व आहारक शरीर में उन–उनके योग्य धातु रूप में परिणमन करने की शक्ति समझनी चाहिए।

(iii) **इन्द्रिय पर्याप्ति**–शरीर पर्याप्ति द्वारा परिणत सप्त धातुओं से कान, आँख, नासिका आदि इन्द्रियों का निर्माण करने एवं उस रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'इन्द्रिय पर्याप्ति' कहते हैं।

(iv) **श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति**–जीव श्वासोच्छ्‌वास योग्य सूक्ष्म पुद्‌गलों को ग्रहण कर श्वास एवं उच्छ्‌वासरूप में परिणत करे, उस शक्ति विशेष को 'श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति' कहते हैं।

(v) **भाषा पर्याप्ति**–जीव भाषा योग्य सूक्ष्म पुद्‌गलों को ग्रहण कर बोलने की योग्यता प्राप्त करे, वचनरूप में परिणत करे अर्थात्–वचन बोले, उस शक्ति विशेष को 'भाषा पर्याप्ति' कहते हैं।

(vi) **मन पर्याप्ति**–मनोवर्गणा के पुद्‌गलों को ग्रहण करके चिन्तन–मनन रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'मन पर्याप्ति' कहते हैं।

जीव उत्पन्न होते समय सभी आत्म प्रदेशों से पुद्‌गलों को आहाररूप में ग्रहण करता है। उन पुद्‌गलों से सभी स्वयोग्य पर्याप्तियाँ जीव पूर्ण कर लेता है। एकेन्द्रिय जीव में प्रारम्भ की चार, बेइन्द्रिय से असन्नी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में मन को छोड़कर शेष पाँच पर्याप्तियाँ पायी जाती हैं। सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों में सभी 6 पर्याप्तियाँ पायी जाती हैं।

जिन जीवों में जितनी पर्याप्ति होनी चाहिए उतनी पर्याप्ति जब तक वह पूरी नहीं कर पाता है तब तक उसे 'अपर्याप्त' कहते हैं। जब वह अपने योग्य सभी पर्याप्तियाँ पूरी कर लेता है तब उसे 'पर्याप्त' कहते हैं।

कोई भी जीव पहली तीन पर्याप्तियाँ (आहार, शरीर व इन्द्रिय) को पूर्ण किये बिना काल नहीं करता है। अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव भी चौथी श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाता है, आयु पूर्ण हो जाने से काल कर जाता है।

प्रत्येक जीव उत्पन्न होते समय अपनी गति–जाति के अनुसार प्राप्त स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों को उत्पत्ति के प्रथम समय में ही प्रारम्भ कर देता है तथा पूर्ण क्रमश: करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर बनते सभी के योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं। औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में, दूसरी शरीर पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त्त में, उसके बाद तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी, प्रत्येक क्रमश: अन्तर्मुहूर्त्त–अन्तर्मुहूर्त्त में पूर्ण करता है।

वैक्रिय, आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में, दूसरी अन्तर्मुहूर्त्त में, उसके बाद तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी पर्याप्ति क्रमश: एक–एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु देव पाँचवी और छठी, इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं। सभी पर्याप्तियों को पूर्ण करने में भी कुल अन्तर्मुहूर्त्त ही लगता है।

प्रश्न– एक पर्याप्ति किनमें पायी जाती है?

उत्तर– उत्पत्ति के पहले समय में, (आहार)।

प्रश्न– दो पर्याप्ति किनमें पायी जाती हैं?

उत्तर– इन्द्रिय पर्याप्ति के अलद्धिया में, (आहार एवं शरीर)।

प्रश्न– तीन पर्याप्ति किनमें पायी जाती हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय के अपर्याप्त में, प्रथम तीन।

प्रश्न– चार पर्याप्ति किनमें पायी जाती हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में, भाषा और मन को छोड़कर।

प्रश्न– पाँच पर्याप्ति किनमें पायी जाती हैं?

उत्तर– विकलेन्द्रिय में, मन को छोड़कर।

प्रश्न– छः पर्याप्ति किनमें पायी जाती हैं?

उत्तर– संज्ञी पर्याप्त में।

(6) छठे बोले प्राण दस–1. श्रोत्रेन्द्रिय–बलप्राण, 2. चक्षुरि–न्द्रिय–बलप्राण, 3. घ्राणेन्द्रिय–बलप्राण, 4. रसनेन्द्रिय–बलप्राण, 5. स्पर्शनेन्द्रिय–बलप्राण, 6. मनोबलप्राण, 7. वचन–बलप्राण, 8. काय–बलप्राण, 9. श्वासोच्छ्–वास–बलप्राण, 10. आयुष्य–बलप्राण।

प्राण–सामान्यतः पर्याप्ति वाले को ही प्राणों की आवश्यकता होती है, अतः पर्याप्ति के बाद प्राणों का कथन किया गया है। जिसके द्वारा शरीर धारी जीवन धारण करे अथवा जिनके सहारे जीव जीवित रहे उसे 'प्राण' कहते हैं अथवा जीवन जीने की शक्ति विशेष को 'प्राण' कहते हैं। ये प्राण दस प्रकार के हैं–

(i) **श्रोत्रेन्द्रिय–बलप्राण**–कानों के द्वारा शब्दों को ग्रहण करने की अथवा सुनने की शक्ति विशेष को 'श्रोत्रेन्द्रिय–बलप्राण' कहते हैं।

(ii) **चक्षुरिन्द्रिय–बलप्राण**–आँखों के द्वारा देखने की शक्ति विशेष को 'चक्षुरिन्द्रिय–बलप्राण' कहते हैं।

(iii) **घ्राणेन्द्रिय–बलप्राण**–नासिका के द्वारा गंध ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'घ्राणेन्द्रिय–बलप्राण' कहते हैं।

(iv) **रसनेन्द्रिय–बलप्राण**–रसना के द्वारा खट्टा, मीठा आदि स्वाद को ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'रसनेन्द्रिय–बलप्राण' कहते हैं।

(v) **स्पर्शनेन्द्रिय–बलप्राण**–पदार्थ में रहे हुए ठंडे, गर्म आदि आठ प्रकार के स्पर्शों को ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'स्पर्शनेन्द्रिय–बलप्राण' कहते हैं।

(vi) **मनोबलप्राण**–द्रव्य मन की सहायता से किसी भी प्रकार का चिन्तन–मनन करने की शक्ति विशेष को 'मनोबलप्राण' कहते हैं।

(vii) **वचन–बलप्राण**–भाषा वर्गणा के पुद्‌गलों की सहायता से वचन बोलने की शक्ति विशेष को 'वचन–बलप्राण' कहते हैं।

(viii) **काय–बलप्राण**–औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर के माध्यम से चलने–फिरने, उठने–बैठने की शक्ति विशेष को 'काय–बलप्राण' कहते हैं।

(ix) **श्वासोच्छ्‌वास–बलप्राण**–श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा के पुद्‌गलों की सहायता से श्वास लेने और श्वास छोड़ने की शक्ति विशेष को 'श्वासोच्छ्‌वास बल प्राण' कहते हैं।

(x) **आयुष्य–बलप्राण**–एक निश्चित समय तक निश्चित भव में जीवित रहने की शक्ति विशेष को 'आयुष्य–बलप्राण' कहते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण–स्पर्शनेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य–बलप्राण। बेइन्द्रिय में छह–पूर्वोक्त चार एवं रसनेन्द्रिय और वचन–बलप्राण। तेइन्द्रिय में सात–पूर्वोक्त छह और घ्राणेन्द्रिय–बलप्राण। चउन्द्रिय में आठ–पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय–बलप्राण। असन्नी पंचेन्द्रिय में नौ–पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय–बलप्राण। सन्नी पंचेन्द्रिय में दसों ही प्राण पाये जाते हैं।

ये सभी दस प्राण, द्रव्य प्राण कहलाते हैं। जबकि ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति ये चार भाव प्राण कहलाते हैं। चारों भाव प्राण सभी संसारी व सिद्ध जीवों में सदैव पाये जाते हैं। जबकि द्रव्य प्राण मात्र संसारी जीवों में ही पाये जाते हैं, सिद्धों में नहीं। संसारी जीवों में भी गति–जाति के अनुसार द्रव्य प्राणों की संख्या घटती–बढ़ती रहती है।

प्रश्न– एक प्राण किनमें मिलता है?

उत्तर– चौदहवें गुणस्थान में (आयुष्य)।

प्रश्न– दो प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– बाटा बहते जीव में (आयुष्य और काय)।

प्रश्न– तीन प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– (i) अपर्याप्त एकेन्द्रिय में (आयुष्य, स्पर्शन और काय)। (ii) सूक्ष्म काय योग केवली में, (आयुष्य, श्वासोच्छ्वास, काय)।

प्रश्न– चार प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में (स्पर्शन, काय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य)।

प्रश्न– पाँच प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– सयोगी केवली में (मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य)।

प्रश्न– छ: प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– बेइन्द्रिय में (स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, काय, वचन, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य)।

प्रश्न– सात प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– तेइन्द्रिय में (उपर्युक्त छ: व घ्राणेन्द्रिय)।

प्रश्न– आठ प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– चउरिन्द्रिय में (उपर्युक्त सात व चक्षुरिन्द्रिय)।

प्रश्न– नौ प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– असन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में (उपर्युक्त आठ व श्रोत्रेन्द्रिय)।

प्रश्न– दस प्राण किनमें मिलते हैं?

उत्तर– सन्नी पंचेन्द्रिय में (सभी)।

(7) सातवें बोले शरीर पाँच–1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस और 5. कार्मण।

◆ **आधार–** ठाणांग 5 सूत्र 395, प्रज्ञापना पद 21 सूत्र 267।

शरीर–जीव के क्रिया करने के साधन को 'शरीर' कहते हैं। 'शीर्यते तत् शरीरम्' इस व्याख्या के अनुसार–जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण क्षीण होता रहे, बदलता रहे उसे 'शरीर' कहते हैं तथा जिसके द्वारा भौतिक सुख–दु:ख आदि का अनुभव होता है उसे 'शरीर' कहते हैं अथवा संसारी जीव जिसमें रहकर अपने शुभाशुभ कर्मों का भोग करे उसे भी 'शरीर' कहते हैं (भोगायतनम् शरीरम्)।

शरीर के पाँच भेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है–

(1) औदारिक शरीर–जो रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि स्थूल पुद्गलों से बना हो उसे 'औदारिक शरीर' कहते हैं। जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान हो एवं जो स्थूल पुद्गलों वाला हो उसे 'औदारिक शरीर' कहते हैं। जिस शरीर में रहकर जीव अपने सभी कर्मों का क्षय कर सके उसे भी 'औदारिक शरीर' कहते हैं। प्राण निकलने के बाद जिसका कलेवर (शव) पड़ा रहे उसे भी 'औदारिक शरीर' कहते हैं।

(2) वैक्रिय शरीर–जिस शरीर में विविध अथवा विशेष प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं। जैसे–एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, छोटा–बड़ा शरीर बनाना, दृश्य–अदृश्य रूप बनाना आदि।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है–(i) भव प्रत्यय, (ii) लब्धि प्रत्यय। पहला देवों और नारकों में जन्म के साथ ही होता है। दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चों को जप–तप आदि विशिष्ट साधना द्वारा लब्धि से प्राप्त होता है।

औदारिक की तरह वैकिय्र शरीर में अस्थि–मांस आदि नहीं होते। वैक्रिय शरीरधारी के प्राण छूटने पर कपूर की तरह वैक्रिय पुद्गल बिखर जाते हैं, कलेवर पड़ा नहीं रहता।

(3) आहारक शरीर–चौदह पूर्वधारी प्रमत्त अणगार, लब्धि से अपने शरीर में से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश्य एक हाथ के पुतले के बराबर शरीर बनाते हैं उसे 'आहारक शरीर' कहते हैं। यह शरीर साध्वियों में नहीं होता। चौदह पूर्वधारी मुनि तीर्थङ्कर की ऋद्धि देखने अथवा चौदह पूर्वों को

चितारते समय स्वयं को शंका हो जाने पर अथवा कोई वादी आकर प्रश्न करें और उस समय उपयोग नहीं लगने पर इस आहारक शरीर को तीर्थङ्कर या केवली के पास भेजते हैं। संशय निवारण के पश्चात् यह शरीर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। कोई हिंसक, क्रूर, अन्याय प्रकृति का शासक नरसंहार, पशुबलि आदि के हिंसक कार्यों में प्रवृत्त हो, समझाने पर भी नहीं माने तो एक हाथ का पुतला बनाकर उस शासक के पास भेजता है, नभ में उद्घोषणा करता है, हिंसा के दुष्परिणामों से शासक को अवगत कराता है, जिससे वह हिंसाजन्य प्रवृत्ति को बन्द कर देता है इस प्रकार जीवदया के लिए भी आहारक लब्धि का प्रयोग किया जाता है। यह सारी प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त में पूरी हो जाती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि तीर्थङ्कर भगवान के पास स्वयं की शंका निवारण, वादी के प्रश्न का उत्तर तथा ऋद्धि दर्शन हेतु आहारक शरीर भेजा जाता है जबकि सामान्य केवली के पास स्वयं की शंका निवारण, व वादी के प्रश्नों का उत्तर पाने हेतु इन दो कारणों से ही आहारक शरीर भेजा जाता है ऋद्धि दर्शन हेतु नहीं।

(4) तैजस शरीर–तेजोमय पुद्गलों से बना जो शरीर खाये हुए आहार के पुद्गलों को पचाने का काम करता है, उसे 'तैजस शरीर' कहते हैं। शरीर में विद्यमान उष्णता व जठराग्नि इसी के कारण प्रकट होती है। विशेष साधना या घोर तपस्या द्वारा व्यक्ति विशेष को तेजोलब्धि उत्पन्न होती है। जब वह उस लब्धि का प्रयोग करता है उस समय भी तैजस शरीर की मुख्यता रहती है। तेजोलब्धि उष्ण और शीत लब्धि की अपेक्षा से दो प्रकार की होती है। यह शरीर सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।

(5) कार्मण शरीर–कार्मण वर्गणाओं का वह समूह जो आत्मा के साथ एक ही क्षेत्र में दूध और पानी की तरह मिलकर रहा हुआ है, तथा अन्य कर्मों एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों को भी व्यवस्थित रखता है, वह 'कार्मण' शरीर कहलाता है। जीव और कर्म पुद्गलों का आपस में अनादि सम्बन्ध है, कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों में पाया जाता है। कार्मण शरीर विग्रह गति में तथा केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे, पाँचवें समय में होती है। पाँचों शरीरों में यह शरीर सबसे मुख्य एवं सूक्ष्म होता है।

प्रत्येक संसारी जीव के साथ एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी तैजस और कार्मण ये दो शरीर अवश्य रहते हैं। जब तक ये दोनों शरीर आत्मा से पूर्णत: अलग नहीं हो जाते तब तक जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न– एक शरीर किनमें पाया जाता है?

उत्तर– चौस्पर्शी रूपी पुद्गलों में, (कार्मण)।

प्रश्न– दो शरीर किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– बाटा बहते जीव में, अर्थात्–एक गति से दूसरी गति में जाने के बीच की अवस्था (तैजस, कार्मण)।

प्रश्न– तीन शरीर किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में–(औदारिक, तैजस, कार्मण)।

प्रश्न– चार शरीर किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में, वायुकाय में, (आहारक को छोड़कर)।

प्रश्न– पाँच शरीर किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– साधु में, मनुष्य में।

(8) आठवें बोले योग पन्द्रह-(चार मन के) 1. सत्य मनोयोग, 2. असत्य मनोयोग, 3. मिश्र मनोयोग, 4. व्यवहार मनोयोग, (चार वचन के) 5. सत्य भाषा, 6. असत्य भाषा, 7. मिश्र भाषा, 8. व्यवहार भाषा, (सात काय के), 9. औदारिक, 10. औदारिक मिश्र, 11. वैक्रिय, 12. वैक्रिय मिश्र, 13. आहारक, 14. आहारक मिश्र और 15. कार्मण काययोग।

◆ **आधार**–भगवती शतक 25 उद्दे. 1, प्रज्ञापना पद 16।

योग–योग का अर्थ है–जीव के साथ मन, वचन और काय की क्रिया का जुड़ना। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से होने वाली मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को 'योग' कहते हैं।

मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से आत्म–प्रदेशों में जो स्पन्दन (कम्पन–हलन–चलन) होता है। उसे भी 'योग' कहते हैं। योग के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं–

(1) सत्य मनोयोग–पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना 'सत्य मनोयोग' है।

(2) असत्य मनोयोग–जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप नहीं है, उस रूप में उसका विचार–चिन्तन करना 'असत्य मनोयोग' कहलाता है।

(3) मिश्र मनोयोग–सत्य और असत्य से मिश्रित अर्थात् जिसमें सत्यांश भी हो और आंशिक असत्य भी हो इस प्रकार के विचार–चिन्तन को 'मिश्र मनोयोग' कहते हैं।

(4) व्यवहार मनोयोग–जो न तो सत्य हो और न ही असत्य हो ऐसा विचार चिन्तन करना 'व्यवहार मनोयोग' है अथवा आमन्त्रण, आदेश, याचना, पृच्छा, प्ररूपणा आदि से सम्बन्धित विचार करना 'व्यवहार मनोयोग' है।

(5) सत्य भाषा, (6) असत्य भाषा, (7) मिश्र भाषा व (8) व्यवहार भाषा–इनको भी मनोयोग की भाँति समझ लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि मनोयोग में सच्चा, झूठा, मिश्र एवं व्यावहारिक चिन्तन है जबकि वचन योग में सत्य–असत्य आदि बोलना है।

(9) औदारिक काययोग–शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् औदारिक शरीर से जो हलन–चलन आदि क्रिया होती है उसे 'औदारिक काय योग' कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति से युक्त अपर्याप्त तथा पर्याप्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों में होता है।

(10) औदारिक मिश्र काययोग–मनुष्य, तिर्यञ्च के अपर्याप्त अवस्था में उत्पत्ति समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक के अन्तर्मुहूर्त्त काल की प्रवृत्ति (क्रिया) को 'औदारिक मिश्र काययोग' कहते हैं। पर्याप्त अवस्था में मनुष्य वैक्रिय अथवा आहारक लब्धि का एवं तिर्यञ्च वैक्रिय लब्धि का प्रयोग कर जब मूल औदारिक शरीर में आता है तब भी औदारिक मिश्र काययोग होता है। सयोगी केवली द्वारा केवली समुद्घात करते समय दूसरे, छठे व सातवें समय में औदारिक व कार्मण शरीर की जो संयुक्त प्रवृत्ति होती है, उसे भी 'औदारिक मिश्र काययोग' कहते हैं।

(11) वैक्रिय काययोग–देवों एवं नारकों में शरीर पर्याप्ति की पूर्णता के बाद और वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्यों–तिर्यञ्चों में लब्धि जन्य वैक्रिय शरीर बनने के बाद वैक्रिय शरीर की जो क्रिया होती है, वह 'वैक्रिय काययोग' है।

(12) वैक्रिय मिश्र काययोग–नारकी, देवता के अपर्याप्त अवस्था में उत्पत्ति समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के अन्तर्मुहूर्त्त काल की क्रिया को 'वैक्रिय मिश्र काययोग' कहते हैं। नारकी, देवता जब पर्याप्त अवस्था में उत्तर वैक्रिय करते हैं तब भी उनमें वैक्रिय मिश्र काययोग माना जाता है। मनुष्य, तिर्यञ्च में वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करने पर वैक्रिय शरीर की शरीर पर्याप्ति जब तक पूर्ण न हो तब तक के काल में होने वाली क्रिया को भी 'वैक्रिय मिश्र काययोग' कहते हैं।

(13) आहारक काययोग–लब्धि द्वारा बनाये हुए पूर्ण आहारक शरीर से तीर्थङ्करों के पास शंका निवारण हेतु गमनागमन आदि की जो क्रिया होती है, उसे 'आहारक काययोग' कहते हैं।

(14) आहारक मिश्र काययोग–आहारक लब्धिवन्त अणगार प्रमत्त अवस्था में जब आहारक शरीर बनाते हैं, उस समय जब तक आहारक शरीर की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के अन्तर्मुहूर्त्त काल में होने वाली क्रिया को 'आहारक मिश्र काययोग' कहते हैं।

(15) कार्मण काययोग–कार्मण शरीर से जो क्रिया–व्यापार होता है, यह अनाहारक अवस्था में ही होता है। जीव जब एक भव से दूसरे भव में जाता है तब वक्र गति में एक–दो–तीन समय तक अनाहारक रह सकता है। उस वक्त होने वाली क्रिया 'कार्मण काय योग' कहलाती है। इसी प्रकार केवली समुद्घात में भी जीव तीसरे, चौथे एवं पाँचवें समय में अनाहारक रहता है, अत: वहाँ भी कार्मण काययोग होता है।

कार्मण काययोग की तरह तैजस काययोग इसलिए अलग नहीं माना गया कि तैजस–कार्मण सदा एक साथ रहते हैं तथा जो व्यापार कार्मण शरीर

द्वारा होता है, वहीं तैजस द्वारा भी होता रहता है। अत: कार्मण काययोग में तैजस काययोग का भी समावेश हो जाता है।

प्रश्न– एक योग किनमें पाया जाता है?

उत्तर– बाटा बहता जीव में, (कार्मण काय)।

प्रश्न– दो योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पर्याप्त विकलेन्द्रिय में, (औदारिक और व्यवहार भाषा)।

प्रश्न– तीन योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– (i) औदारिक शरीरी अपर्याप्ता में (औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण काय)।

(ii) वैक्रिय शरीर अपर्याप्ता में (वै., वै.मि., कार्मण काय)।

प्रश्न– चार योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– विकलेन्द्रिय में (उपर्युक्त तीन व व्यवहार भाषा)।

प्रश्न– पाँच योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– वायुकाय में (पूर्वोक्त तीन व वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र)।

प्रश्न– छ: योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– असंज्ञी तिर्यञ्च में (उपर्युक्त पाँच व व्यवहार भाषा)।

प्रश्न– सात योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– केवली में (सत्य मनोयोग, व्यवहार मनोयोग, सत्य भाषा, व्यवहार भाषा, औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्मण काय)।

प्रश्न– आठ योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– नोसंज्ञी पंचेन्द्रिय आहारक में (सत्य मनोयोग, व्यवहार मनोयोग,

सत्य भाषा, व्यवहार भाषा, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय और वैक्रिय मिश्र)।

प्रश्न– नौ योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव में (चार मन के, चार वचन के और औदारिक काय)।

प्रश्न– दस योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव में (उपर्युक्त नौ व वैक्रिय काय)।

प्रश्न– ग्यारह योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– नारकी व देवता में (चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र और कार्मण काय)।

प्रश्न– बारह योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– श्रावक में (चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, औदारिक और औदारिक मिश्र)।

प्रश्न– तेरह योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तिर्यञ्च में (आहारक, आहारक मिश्र को छोड़कर)।

प्रश्न– चौदह योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– प्रमत्त संयति में (कार्मण काय योग छोड़कर)।

प्रश्न– पन्द्रह योग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मनुष्य में।

(9) नौवें बोले उपयोग बारह–(पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन)।

पाँच ज्ञान-(i) मतिज्ञान, (ii) श्रुतज्ञान, (iii) अवधिज्ञान, (iv) मन:पर्यवज्ञान और (v) केवलज्ञान।

तीन अज्ञान-(i) मति-अज्ञान, (ii) श्रुत-अज्ञान और (iii) विभंगज्ञान या अवधि-अज्ञान।

चार दर्शन-(i) चक्षुदर्शन, (ii) अचक्षुदर्शन, (iii) अवधि-दर्शन और (iv) केवलदर्शन।

◆ **आधार**–पन्नवणा सूत्र, पद 28, सूत्र 312।

उपयोग–जीव की ज्ञान एवं दर्शनात्मक चेतनाशक्ति की प्रवृत्ति को 'उपयोग' कहते हैं। अर्थात् जीव जिस चेतना शक्ति के द्वारा वस्तु के सामान्य एवं विशेष रूप का ज्ञान करता है, उस ज्ञान करने की क्रिया को 'उपयोग' कहते हैं। योग में तन, मन और वाणी का व्यापार मुख्य होता है जबकि उपयोग में जीव की चेतना का व्यापार मुख्य होता है। जीव का उपयोग लक्षण मुख्य होने से उपयोग से ही जीव की पहचान होती है। उपयोग सभी संसारी एवं सिद्धों में सदैव पाया जाता है। उपयोग के मूलरूप में 2 भेद हैं–ज्ञानोपयोग (साकारोपयोग) एवं दर्शनोपयोग (अनाकारोपयोग)।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं–

1. मतिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता से रूपी–अरूपी पदार्थों का सीमित मात्रा में जो विशेष बोध होता है, उसे मति ज्ञान कहते हैं। जाति स्मरण ज्ञान भी इसी में शामिल होता है, इसमें अपने पिछले संज्ञी के नौ सौ (900) जन्मों की बात जानी जा सकती है।

2. श्रुतज्ञान–शब्द सुनकर, पढ़कर, चिन्तन–मनन कर अथवा संकेत

से रूपी–अरूपी पदार्थों का सीमित मात्रा में होने वाला शब्दाश्रित ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।

मति व श्रुतज्ञान में अन्तर–मतिज्ञान में शब्दों का उल्लेख नहीं होता है अर्थात् यह स्वयं के लिए ही लाभदायक होता है। जबकि श्रुतज्ञान में शब्दों का उल्लेख किया जाता है। यह स्व और पर दोनों के लिए लाभकारी होता है। मतिज्ञान से मात्र वर्तमान की जानकारी होती है जबकि श्रुतज्ञान से तीनों काल का बोध होता है। मतिज्ञान में सामान्य रूप से पदार्थों को जाना जाता है जबकि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान द्वारा जाने हुए विषयों को अधिक विशिष्टता से जाना जाता है अथवा निर्णायिकरूप से जाना जाता है।

3. अवधिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित ज्ञान को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान देवों–नारकों में जन्म से ही तथा संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय व गर्भज मनुष्य के क्षयोपशम विशेष से होता है। अवधिज्ञान से मन की बात भी जानी जा सकती है।

4. मन: पर्यवज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा से संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना 'मन: पर्यवज्ञान' है।

अवधि और मन: पर्यवज्ञान में अन्तर–

यद्यपि अवधि और मन: पर्यवज्ञान ये दोनों सीमित ज्ञान तथा प्रत्यक्षरूप से होने वाले ज्ञान हैं फिर भी दोनों में निम्न अन्तर भी है जैसे–

1. मन: पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत गहराई से जानता है, अत: वह अवधिज्ञान से विशुद्धतर है।

2. अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक प्रमाण है, जबकि मन: पर्यवज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वत तक ही है।

3. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव हो सकते हैं, जबकि मन:पर्यव ज्ञान के स्वामी केवल संयमी मनुष्य ही होते हैं।

4. अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, जबकि मन: पर्यवज्ञान का विषय अवधिज्ञान का अनन्तवाँ भाग अर्थात् मंनोद्रव्य मात्र है।

अवधिज्ञान का विषय अधिक व मन: पर्यवज्ञान का विषय कम होने पर भी अवधिज्ञान से मन:पर्यवज्ञान विशुद्धतर कैसे?

विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं अपितु विषयगत सूक्ष्मताओं की न्यूनाधिक जानकारी पर निर्भर होता है। जैसे–दो डॉक्टर में एक डॉक्टर ऐसा है कि वह सामान्य रूप से सभी प्रकार की बीमारियों का इलाज करता है किन्तु किसी में भी पूर्ण या विशिष्ट दक्षता नहीं है। जबकि दूसरा डॉक्टर ऐसा है जो हृदय रोग का विशेषज्ञ है, वह हृदय की बीमारियों का अधिक सफलता एवं दक्षता से इलाज कर सकता है। दूसरे डॉक्टर का ज्ञान अपेक्षाकृत कम होने पर भी अपने विषय का अधिक स्पष्ट एवं विशुद्ध ज्ञान है। वैसे ही विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक बारीकी से जानने के कारण मन: पर्यवज्ञान अवधिज्ञान से विशुद्धतर कहा जाता है।

5. केवलज्ञान–सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ सीधे

आत्मा से परिपूर्णरूप से प्रत्यक्ष जानना 'केवलज्ञान' है। सभी द्रव्यों की त्रैकालिक (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) अवस्थाओं को सीधे आत्मा से बिना किसी सहायता के परिपूर्ण जानना 'केवलज्ञान' है।

उपर्युक्त पाँचों ही ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होते हैं। पाँच ज्ञान में से शुरु के दो ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से होने के कारण परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं। अन्तिम तीन ज्ञान सीधे आत्मा से होने के कारण प्रत्यक्ष कहलाते हैं। शुरु के चार ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाते हैं। केवलज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्णरूप से क्षय होने पर प्रकट होने से क्षायिक ज्ञान कहलाता है। शुरु के चार ज्ञान आने के बाद जा सकते हैं, इस कारण उन्हें प्रतिपाति ज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान आने के बाद वापस नहीं जाता है, इसलिए इसे अप्रतिपाति ज्ञान कहते हैं।

6. मति-अज्ञान-सम्यग्दर्शन के अभाव में मन और इन्द्रियों की सहायता से रूपी और अरूपी पदार्थों की सीमितरूप में जो जानकारी होती है, उसे 'मति-अज्ञान' कहते हैं।

7. श्रुत-अज्ञान-सम्यक्त्व के अभाव में सुनने, पढ़ने और मनन करने से जीवों को जो अरूपी पदार्थों की सीमितरूप में जो जानकारी होती है, उसे 'श्रुत-अज्ञान' कहते हैं।

8. विभंगज्ञान-सम्यक्त्व के अभाव में आत्मा से होने वाली रूपी पदार्थों की मर्यादित जानकारी को 'विभंग ज्ञान' या 'अवधि-अज्ञान' कहते हैं।

ज्ञान और अज्ञान में कोई अन्तर है तो दृष्टि का है। सम्यक् अर्थात्

यथार्थ दृष्टि युक्त ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि युक्त अज्ञान होता है। अज्ञान का अर्थ यहाँ पर अजानपन अर्थात् मूर्खता न होकर मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान से है।

दर्शनोपयोग के चार प्रकार–

1. चक्षु:दर्शन–चक्षु: इन्द्रिय की सहायता से जीवों को मति–श्रुतज्ञान के पूर्व जो सामान्य बोध होता है अथवा अनुभूति होती है, उसे 'चक्षु:दर्शन' कहते हैं।

2. अचक्षु:दर्शन–चक्षु: इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों और मन की सहायता से अर्थात् कानों से सुनकर, नाक से सूँघकर, जीभ से चखकर, शरीर से छूकर और मन से चिन्तन–मनन कर मति–श्रुतज्ञान से पूर्व जो पदार्थों का सामान्य बोध होता है। वह 'अचक्षु:दर्शन' कहलाता है।

3. अवधिदर्शन–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मात्र आत्मा की शक्ति से मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों का अवधिज्ञान या विभंगज्ञान से पूर्व सामान्य रूप से बोध होना 'अवधिदर्शन' कहलाता है।

4. केवलदर्शन–त्रिकालवर्ती सभी द्रव्यों एवं उनकी सभी पर्यायों को सामान्यरूप से जानना 'केवलदर्शन कहलाता है।

मन: पर्यव ज्ञान से मन की अवस्थायें (पर्यायें) जानी जाती हैं और वे अवस्थायें विशेष ही होती हैं अत: मन:पर्यवदर्शन नहीं होता।

किस जीव में कितने उपयोग–

सातों नारकी, नव ग्रैवेयक तक के देव एवं गर्भज तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में नौ उपयोग हो सकते हैं–प्रथम तीन ज्ञान, तीन अज्ञान और प्रथम तीन दर्शन। स्थावर जीवों में तीन उपयोग–मति अज्ञान, श्रुत–अज्ञान और

अचक्षुदर्शन। असंज्ञी मनुष्य और 56 अन्तर्द्वीपों के युगलिकों में चार उपयोग– मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन।

पाँच अनुत्तर विमान के देवों में छह उपयोग–तीन ज्ञान और प्रथम तीन दर्शन। गर्भज मनुष्यों में बारह ही उपयोग हो सकते हैं। सिद्ध भगवान में दो उपयोग केवलज्ञान व केवलदर्शन तथा सिद्ध होते समय (बाटा बहता सिद्ध में) केवल एक केवलज्ञान होता है।

इस नवमें बोल में हमें यह समझना चाहिए कि मैं भी जीव हूँ, क्योंकि जीव के ज्ञान और दर्शनरूप उपयोग गुण मेरे अन्दर भी विद्यमान हैं। जीव की शुद्ध दशा मात्र ज्ञाता–दृष्टा भाव है। संसारवर्धक आरम्भ–समारंभ एवं विषय–कषायों के कार्यों में कर्तृत्व वैभाविक भाव है। अत: मुझे भी इनमें प्रीति न रखकर मात्र ज्ञाता–दृष्टा भाव ही कायम रखना है। यह भाव ही मुझे मेरी शुद्ध (सिद्ध) दशा प्राप्त करा सकता है। ऐसा दृढ़ श्रद्धान कर रागादि भावों का विसर्जन एवं समता भाव का सर्जन करते रहें।

प्रश्न– एक उपयोग किनमें पाया जाता है?

उत्तर– बाटा बहता सिद्ध में (केवलज्ञान)।

प्रश्न– दो उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– केवली में (केवलज्ञान, केवलदर्शन)।

प्रश्न– तीन उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में (मति–श्रुत–अज्ञान, अचक्षुदर्शन)।

प्रश्न– चार उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पर्याप्ता चउरिन्द्रिय में (उपर्युक्त तीन व चक्षुदर्शन)।

प्रश्न– पाँच उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– बेइन्द्रिय व तेइन्द्रिय में (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान व अचक्षुदर्शन) क्योंकि बेइन्द्रिय व तेइन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में सास्वादन समकित हो सकती है, अत: दो ज्ञान तथा पर्याप्त होने पर मिथ्यात्वी हो जाते हैं, इसलिए दो अज्ञान व एक दर्शन ये पाँच उपयोग होते हैं।

प्रश्न– छ: उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मिथ्यात्वी में (प्रथम तीन अज्ञान और तीन दर्शन)।

प्रश्न– सात उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– छद्‌मस्थ संयति में (प्रथम चार ज्ञान व प्रथम तीन दर्शन)।

प्रश्न– आठ उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अचरम में (प्रथम तीन अज्ञान व तीन दर्शन तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन) अचरम में अभवी जीव तथा सिद्ध आते हैं, क्योंकि ये दोनों अपनी स्थिति को कभी भी नहीं छोड़ते अर्थात् कभी अन्तिम समय को प्राप्त नहीं होते, अत: अभवी जीवों की अपेक्षा से तीन अज्ञान व तीन दर्शन तथा सिद्धों की अपेक्षा से केवलज्ञान व केवलदर्शन, इस प्रकार अचरम में कुल आठ उपयोग माने गये हैं।

प्रश्न– नौ उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– देवता व नारकी में (प्रथम तीन ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन)।

प्रश्न– दस उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सवेदी में (केवल ज्ञान, केवल दर्शन छोड़कर)।

प्रश्न– ग्यारह उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अभाषक में (मन:पर्यव ज्ञान छोड़कर) क्योंकि मन:पर्यव ज्ञान छट्ठे से बारहवें गुणस्थानवर्ती साधुओं को ही हो पाता है, उस समय वे भाषक ही होते हैं।

प्रश्न– बारह उपयोग किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– समुच्चय मनुष्य में।

(10) दसवें बोले कर्म आठ–1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

◆ **आधार–** पन्नवणा सूत्र पद 23, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 33।

कर्म–कषाय और योग के निमित्त से आत्मा के साथ लगे हुए कार्मण–पुद्‌गल–स्कन्ध को 'कर्म' कहते हैं।

जीव के द्वारा मिथ्यात्व आदि हेतुओं से जो क्रिया की जाती है उसे 'कर्म' कहते हैं। कषाय और योग के निमित्त से आत्मा पर लगने वाले कार्मण–पुद्‌गलों को 'कर्म' कहते हैं। ये कर्म चतु:स्पर्शी होने से केवलज्ञानी या विशेष अवधिज्ञानी को ही दिखाई देते हैं। कर्म के मुख्यत: दो भेद हैं–घाती कर्म व अघाती कर्म।

घाति कर्म–जो आत्मा के मूल गुणों की घात करे, उसे 'घाती कर्म' कहते हैं। ये चार हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म।

अघाती कर्म–जो आत्मा के सामान्य गुणों को प्रभावित करके आत्मा

को विकृत बना देते हैं, उन्हें 'अघाति कर्म' कहते हैं। मूल गुणों का घात नहीं करने के कारण उन्हें अघाती कर्म कहते हैं। ये भी चार हैं–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म।

दूसरी अपेक्षा से 2 भेद–(1) द्रव्य कर्म और (2) भाव कर्म।

द्रव्य कर्म–जो कार्मण पुद्‌गल आत्मा पर पूर्व में लगे हुए कर्मों पर चिपकते हैं उन्हें 'द्रव्य कर्म' कहते हैं।

भाव कर्म–राग द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों के कारण द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है, इन विकारी भावों को 'भाव कर्म' कहते हैं।

द्रव्य कर्म के आठ भेद इस प्रकार हैं–

1. ज्ञानावरणीय कर्म–यह आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करते हैं। ज्ञान का अर्थ है–नव तत्त्व और षट् द्रव्यों के सही स्वरूप की जानकारी होना। मति, श्रुत, अवधि, मन:–पर्यव और केवल–ज्ञानावरणीय–ये ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद होते हैं। आत्म–स्वरूप को जानने वाले की एवं निजज्ञान की आशातना करने पर 6 कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है। इस कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान या केवलज्ञान प्रकट होता है।

2. दर्शनावरणीय कर्म–यह आत्मा के दर्शन गुण को ढकता है। जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शनों में बाधक बनता है, उसी प्रकार यह वस्तु तत्त्व के सामान्य गुण को जानने में बाधक बनता है। दर्शनावरणीय का क्षय होने पर अनन्त दर्शन का गुण प्रकट होता है। दर्शन और दर्शनवंतों की निन्दा आदि 6 कारणों से इस कर्म का बंध होता है।

3. वेदनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव साता–असातारूप वेदनाजन्य अनुभूति करे उसे 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। साता वेदनीय से सुखरूप तथा असाता वेदनीय से दु:खरूप वेदन होता है। शहद लिपटी तलवार को जीभ से चाटने के समान। जीवों को सुख उपजाने से साता वेदनीय तथा दु:ख उपजाने से असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। इस कर्म के क्षय से **निराबाध** सुख प्रकट होता है।

4. मोहनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से आत्मा मोहित बनकर स्व और पर का अथवा सत्–असत् का अथवा हेय, ज्ञेय, उपादेय का भान भूल जाता है, उसे 'मोहनीय कर्म' कहते हैं। जैसे–मदिरा पीया हुआ व्यक्ति बेभान हो जाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं–1. दर्शन मोहनीय और 2. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के कारण क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो पाती। चारित्र मोहनीय वीतरागता में बाधक बनता है। कषायों को पतला करके श्रेणि–आरोहण कर वीतरागता प्राप्त की जाती है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय होने पर नौ पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का ज्ञान एवं आचरण भी मोक्ष प्राप्ति रूप निर्जरा का हेतु नहीं बन पाता। अत: सभी कर्मों में मोहनीय कर्म को सेनापति अथवा राजा की उपमा दी जाती है। साथ ही इस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी सबसे अधिक 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। तीव्र मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायों के सेवन से मोहनीय कर्म बंधता है। दर्शन मोहनीय के क्षय से क्षायिक समकित और चारित्र मोहनीय के क्षय से अनन्त शान्ति या वीतरागता प्रकट होती है।

5. आयुष्य कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव एक निश्चित भव में

रुका रहता है एवं जिसके समाप्त होने पर मरणावस्था को प्राप्त हो दूसरे भव में जन्म लेता है वह 'आयुष्य कर्म' कहलाता है। जिस प्रकार से कैदी कारागार में बन्द पड़ा रहता है, उसी प्रकार इस कर्म से जीव नहीं चाहते हुए भी निश्चित समय तक एक शरीर में बँधा रहता है। इस कर्म के उदय से जीव चारों गतियों में जन्म-मरण करता रहता है और इसके क्षय होने पर अमरत्व गुण प्रकट होता है। 'आयुष्य कर्म' के मुख्य चार भेद हैं-नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

नरकायु चार कारणों से बन्धती है-1. महा आरम्भ करने से, 2. महापरिग्रह करने से, 3. पंचेन्द्रिय जीव का वध करने से और 4. मद्य-मांस का सेवन करने से।

तिर्यञ्चायु चार कारणों से बन्धती है-1. माया करने से, 2. गूढ़ माया करने से, 3. असत्य वचन बोलने से और 4. खोटा माप-तोल करने से।

मनुष्यायु चार कारणों से बन्धती है-1 प्रकृति (स्वभाव) से सरल, 2. प्रकृति से विनम्र, 3. दया-अनुकम्पा भाव और 4. मद-मत्सर (ईर्ष्या) रहित होने से।

देवायु चार कारणों से बन्धती है-1. सराग संयम पालन करने से, 2. संयमासंयम (श्रावक-व्रतों का पालन करने से), 3. अकाम निर्जरा से और 4. बाल (अज्ञान) तप करने से।

6. नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव अनेक प्रकार के शरीर, गति, जाति, इन्द्रिय आदि को प्राप्त करता है उसे 'नाम कर्म' कहते हैं। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के, अनेक रंगों, डिजाइनों के चित्र

बनाता है, ठीक उसी प्रकार नाम कर्म से भी जीव को अनेक प्रकार के शरीर, गति, जाति, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त होते हैं। इस कर्म से जीव शुभ–अशुभ आदि अनेक रूपों में परिणत होता है। नामकर्म शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। इसके प्रत्येक के बंध के चार–चार कारण हैं। मन, वचन व काय की सरलता व मद–मत्सर भाव से रहितता शुभ नामकर्म के कारण हैं तो इसके विपरीत अशुभ नाम के कारण हैं। शुभ नामकर्म के उदय से जीव शरीर एवं वचन सम्बन्धी उत्कृष्टता और यश पाता है, जबकि अशुभ नाम कर्म के उदय से शरीर एवं वाणी सम्बन्धी निकृष्टता एवं अयश पाता है। इस कर्म के क्षय से (अमूर्त्त) अरूपीपन की प्राप्ति होती है।

7. गोत्र कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव में उच्चता और नीचता के संस्कार हों अथवा ऊँच और नीच कुलों में जन्म लेना पड़े, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिस प्रकार कुंभकार छोटे–बड़े आदि अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता है, ठीक उसी प्रकार जीव गोत्र कर्म के उदय से विभिन्न ऊँच–नीच कुलों में जन्म लेता है। जाति, कुल आदि आठ प्रकार के मद करने से नीच गोत्र एवं मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है। गुणीजनों के प्रति विनय–आदर एवं बहुमान रखने से भी उच्च गोत्र का बन्ध होता है। इस कर्म के क्षय से जीव अगुरुलघु गुण को प्राप्त करता है। अगुरु–लघु से तात्पर्य–न हल्का न भारी, न ऊँचा न नीचा, सम अवस्था होना है।

8. अन्तराय कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच शक्तियाँ प्रभावित हों अथवा इनमें बाधा उत्पन्न हो, उसे 'अंतराय कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–1. दानान्तराय, 2.

लाभान्तराय, 3. भोगान्तराय, 4. उपभोगान्तराय एवं 5. वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय देने से जीव अन्तराय कर्म बाँधता है। इस कर्म के क्षय से उपर्युक्त पाँचों शक्तियाँ अनन्त रूप में प्रकट होती हैं। अर्थात् अनन्त आत्म-सामर्थ्य नामक गुण प्रकट होता है।

प्रश्न– एक कर्म कहाँ पर बन्धता है?

उत्तर– सयोगी यथाख्यात चारित्र में (साता वेदनीय)।

प्रश्न– दो कर्मों का बन्ध कौन नहीं करते?

उत्तर– दसवें गुणस्थानवर्ती जीव (आयु और मोहनीय)।

प्रश्न– तीन कर्मों की उदीरणा कौन नहीं करते?

उत्तर– उपशान्त मोहनीय गुणस्थान में (वेदनीय, मोहनीय और आयु)।

प्रश्न– चार कर्मों का उदय किनके होता है?

उत्तर– केवली को (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र)।

प्रश्न– पाँच कर्मों की उदीरणा कहाँ होती है?

उत्तर– ग्यारहवें गुणस्थान में (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, नाम, गोत्र और अन्तराय)।

प्रश्न– छः कर्मों का बन्ध कहाँ होता है?

उत्तर– दसवें गुणस्थान में (आयु व मोहनीय छोड़कर)।

प्रश्न– सात कर्मों का उदय कहाँ पर होता है?

उत्तर– ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थान में (मोहनीय छोड़कर)।

प्रश्न– आठ कर्मों का उदय कहाँ होता है?

उत्तर– पहले से दसवें गुणस्थान तक।

(11) ग्यारहवें बोले गुणस्थान चौदह–1. मिथ्यात्व गुणस्थान, 2. सास्वादन गुणस्थान, 3. मिश्र गुणस्थान, 4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, 5. देशविरति श्रावक गुणस्थान, 6. प्रमादी साधु गुणस्थान, 7. अप्रमादी साधु गुणस्थान, 8. निवृत्ति–बादर गुणस्थान, 9. अनिवृत्ति–बादर गुणस्थान, 10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान, 11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान, 12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान, 13. सयोगी केवली गुणस्थान और 14. अयोगी केवली गुणस्थान।

◆ **आधार**–समवायांग–14।

गुणस्थान–मोह और योग के निमित्त से आत्म–विकास की बनने वाली तरतम (कम–ज्यादा) अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं।

मोह और योग के निमित्त से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के गुणों की तारतम्य (न्यूनाधिकता) रूप अवस्था विशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं।

जीव के ज्ञान–दर्शन–चारित्र आदि आत्मिक गुणों की न्यूनाधिक अवस्था को 'गुणस्थान' कहते हैं।

जीव की अशुद्धतम दशा से लेकर शुद्धतम दशा तक, संसारी अवस्था से सिद्ध अवस्था तक की अवस्थाएँ इन चौदह गुणस्थानों में वर्णित हैं।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान–देव, गुरु, धर्म और अपने आत्म–स्वरूप के बारे में यथार्थ श्रद्धान नहीं होना अर्थात् विपरीत श्रद्धान होना 'मिथ्यात्व गुणस्थान' है। जब तक जीव में मिथ्यात्व रहता है, तब तक जीव का अनन्त

संसार का बंध चलता रहता है। इसके सद्भाव में की गयी धार्मिक क्रियाएँ कर्म निर्जरा का हेतु नहीं बनकर केवल पुण्य बंध का हेतु बनती हैं। धर्म की शुरुआत ही मिथ्यात्व के चले जाने पर सही रूप में होती है। इसलिए व्यक्ति को मिथ्यात्वरूपी महाभयंकर शत्रु से सदैव बचने का और दूर करने का प्रयास करना चाहिए। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में जीव भले कितने ही आविष्कारों की खोज क्यों न कर ले, बाहर का कितना ही ज्ञान क्यों न हासिल कर ले, किन्तु जब तक अपने शुद्ध आत्म–स्वरूप का भान नहीं हो जाता, तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहता है। मिथ्यात्वी भी कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे–

(i) अभवी–जो अनादि काल से मिथ्यात्वी हैं और अनन्त काल तक मिथ्यात्वी ही रहकर इस चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे। इनमें मुक्ति पाने की योग्यता ही नहीं होती है।

(ii) भवी–जो अनादिकाल से मिथ्यात्वी हैं, किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ कर मिथ्यात्व का अन्त कर मोक्ष–प्राप्ति की योग्यता रखते हैं।

(iii) पडिवाई–जिन जीवों ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु सम्यक्त्व का वमन कर देने से वर्तमान में मिथ्यात्व दशा में है।

2. सास्वादन गुणस्थान–उपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से व दर्शन मोहनीय का उपशम कायम रहने से सम्यक्त्व की आस्वाद मात्र जो अवस्था बनती है, उसे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। उपशम समकित के लाभ को जो बाधा पहुँचाए, विराधना करे उसे सासादन गुणस्थान भी कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट

छह आवलिका की होती है। इसमें जीव वमन किये सम्यक्त्व का आस्वाद मात्र लेता रहता है। इसी मध्यवर्ती (सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में आने के बीच की अवस्था) पतनोन्मुख दशा का नाम सास्वादन गुणस्थान है। जैसे खीर खाकर वमन करने पर खीर का हल्का सा स्वाद मुँह में बना रहता है।

3. मिश्र गुणस्थान–जब जीव देव, गुरु, धर्म तथा अपने स्वरूप के बारे में सही निर्णय (श्रद्धान) नहीं कर पाता है, कुदेव और सुदेव की मान्यता में अन्तर नहीं कर पाता है, तब सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व से मिश्रित इस अवस्था को 'मिश्र मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय होता है, जिसके कारण जीव को जैन धर्म में न तो एकान्त प्रीति होती है और न एकान्त अप्रीति। इसमें न तो आगामी भव का आयुष्य बन्धता है, न ही जीव काल करता है, न ही किसी लब्धि का प्रयोग करता है और इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त्त होती है।

4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान–दर्शन मोहनीय कर्म की तीन (मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय) तथा चारित्र मोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ) इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप का भान हो जाता है। जब जीव षट्द्रव्य और नवतत्त्वों का अथवा देव, गुरु, धर्म और अपने आत्म–स्वरूप का परिपूर्ण यथार्थ श्रद्धान कर लेता है, परन्तु अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय होने के कारण किसी भी प्रकार का व्रत–नियम पालन नहीं कर पाता है। उस अवस्था को 'अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं। यह गुणस्थान चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में पाया जा सकता है।

विरति या त्याग के अभाव से इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं, किन्तु जिसकी दृष्टि यथार्थ हो गयी, एक दिन वह चारित्र मोह का क्रमश: क्षय करके त्याग–प्रत्याख्यान भी कर सकता है। दृष्टि का यथार्थ होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद यदि सम्यक्त्व चली भी जाये तो जीव देशोन (कुछ कम) अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

मानव जीवन प्राप्ति का चरम और परम लक्ष्य अव्याबाध एवं अनन्त सुख–मोक्ष को प्राप्त करना है, उस मोक्षरूपी मंजिल की प्रथम सीढ़ी सम्यक्त्व है। अत: सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति में सहायक उपायों की अधिकाधिक आराधना कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

5. देशविरति श्रावक गुणस्थान–जो सम्यग्दृष्टि जीव यथा शक्ति व्रत–नियम जैसे–अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि ग्रहण कर उनकी परिपालना करते हैं, उस अवस्था को 'देशविरति श्रावक गुणस्थान' कहते हैं।

यह गुणस्थान जीव के दर्शन सप्तक, अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क व नो कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर प्राप्त होता है। इसके अभाव में त्याग करने की प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। इस अवस्था में श्रावक बारह व्रत, चौदह नियम आदि ग्रहण कर अपने जीवन की वृत्ति एवं प्रवृत्तियों को मर्यादित करता है। इस गुणस्थान में आने पर जीव अल्पारम्भी–अल्पपरिग्रही बन जाता है। उसका लक्ष्य अनारम्भी बनना होता है। यह गुणस्थान विरति मार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

इस गुणस्थान में आंशिकरूप से पापों का त्याग होने के कारण इसे देशविरति श्रावक गुणस्थान कहा है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) करोड़ पूर्व है। इस गुणस्थान का आराधक जीव जघन्य तीसरे तथा उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।

6. प्रमादी साधु गुणस्थान–जब साधक 18 पापों का अथवा आश्रवों का तीन करण, तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करके संयमी बन जाता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करता है। पालन करते हुए भी संज्वलन कषाय की तीव्रता के कारण प्रमाद शेष रह जाता है। अत: 'प्रमादी साधु गुणस्थान' कहलाता है। अपने आत्मस्वरूप का लगातार स्मरण नहीं रहना, ज्ञान, दर्शन चारित्र की आराधना में अपूर्व आत्मिक उत्साह नहीं होना 'प्रमाद' कहलाता है। प्रमाद पाँच प्रकार का है–मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इस गुणस्थान में अरिहंत भगवन्तों की आज्ञानुसार श्रद्धा–प्ररूपणा होने के साथ उनकी पालना भी की जाती है।

गृहस्थ समाज के लिए साधु आदर्श होते हैं। उनके द्वारा की गयी श्रद्धना, प्ररूपणा एवं फरसना के अनुरूप ही गृहस्थों में संस्कार पड़ते हैं। साधु स्व–पर हितकारी होते हैं। अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए उपदेश आदि से अन्य लोगों को भी सन्मार्गगामी बनाते हैं। इस गुणस्थान का आराधक जीव जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।

7. अप्रमादी साधु गुणस्थान–जब साधु–साध्वी स्वाध्याय–ध्यान, चिन्तन–मनन आदि में विशेष रूप से लीन हो जाते हैं, पाँच प्रमाद से रहित

होकर तेरह प्रकार के चारित्र का निरतिचार पालन करते हैं, अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लग जाते हैं, तब उस अवस्था को 'अप्रमादी साधु गुणस्थान' कहते हैं।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होती है। इस गुणस्थान का आराधक जीव भी जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।

8. निवृत्तिबादर गुणस्थान–निवृत्ति का अर्थ है–भिन्नता और बादर का अर्थ है–स्थूल कषाय। इस गुणस्थान में समान समय वाले जीवों के परिणामों में अन्तर होता है तथा स्थूल संज्वलन कषाय का उदय रहता है, इसलिए इसे 'निवृत्ति–बादर गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होती है। इस गुणस्थान में पाँच बातें अपूर्व होने के कारण इस गुणस्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। पाँच बातें–1. स्थिति घात, 2. रस घात, 3. गुण श्रेणि, 4. गुण संक्रमण और 5. अपूर्व स्थिति बन्ध। इस गुणस्थान में जीव उपशम या क्षपक श्रेणि प्रारम्भ करता है।

(1) उपशम श्रेणि–दर्शन सप्तक के क्षय या उपशम करने के बाद मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों को दबाते हुए या उपशमन करते हुए आगे के गुणस्थान में बढ़ना 'उपशम श्रेणि' है।

(2) क्षपक श्रेणि–दर्शन सप्तक के क्षय के बाद मोहकर्म की शेष 21 प्रकृतियों का क्षय करते हुए आगे के गुणस्थानों में बढ़ते हैं तो उसे 'क्षपक श्रेणि' कहते हैं। क्षपक श्रेणि वाले जीव दसवें गुणस्थान से सीधे

बारहवें गुणस्थान में होते हुए तेरहवें गुणस्थान में जाकर केवली बन जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि सीधा मोक्ष–मार्ग क्षपक श्रेणि है न कि उपशम श्रेणि। क्षपक श्रेणि वाला जीव चढ़ने के बाद गिरता ही नहीं है, इसलिए यह श्रेणि जीवन में एक बार ही होती है।

9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान–अनिवृत्ति का अर्थ है–अभिन्नता। इस गुणस्थान के सम–समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता होती है तथा स्थूल संज्वलन कषाय का उदय रहता है, इसलिए इस गुणस्थान को 'अनिवृत्ति–बादर गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है।

10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान–सूक्ष्म संज्वलन लोभ का उदय शेष रह जाता है, बाकी प्रकृतियों का क्षय अथवा उपशम हो जाता है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में सूक्ष्म संपराय चारित्र होता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान–जब आत्मा में मोहकर्म बिल्कुल शान्त हो जाता है, अर्थात् किसी भी प्रकार से मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उदय नहीं रहता, अन्तर्मुहूर्त के लिए दब जाता है, उस अवस्था को 'उपशान्त मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं।

इस गुणस्थान में उपशम श्रेणि वाला जीव ही आता है, क्षपक श्रेणि वाला नहीं। क्षपक श्रेणि वाला जीव दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मूहूर्त्त होती है। इस गुणस्थान में काल करने वाला जीव अनुत्तर विमान में ही जाता है। यदि काल नहीं करता है तो स्थिति पूरी होने से नियमा नीचे गिरता है। लौटकर जीव दसवें गुणस्थान में, नौवें गुणस्थान में यावत् कोई पहले गुणस्थान में भी आ सकता है। कोई दूसरी बार भी उपशम श्रेणि कर सकता है, आगमानुसार उस भव में क्षपक श्रेणि नहीं करेगा।

12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान–जब मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, उस अवस्था को 'क्षीण मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर जीव आगे जाकर निश्चित रूप से केवलज्ञान को प्राप्त करता है, गिरता नहीं है, क्योंकि नीचे के गुणस्थानों में गिरने का कारण मोहकर्म, सर्वथा नष्ट हो चुका होता है। इसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। इस गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों घाति कर्मों का एक साथ सम्पूर्ण क्षय हो जाता है।

13. सयोगी केवली गुणस्थान–घाति–कर्मों के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति के साथ यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इसमें मन, वचन व काया की प्राप्ति चालू रहती है। भाव तीर्थङ्कर का पद भी इसी गुणस्थान में प्राप्त होता है। तीर्थङ्कर द्वारा प्ररूपित सत्य मार्ग संसारी छद्मस्थ जीवों के लिए कल्याणकारी होता है। उस मार्ग के अनुसार आचरण करने से आत्मा शाश्वत सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर सकता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) क्रोड़ पूर्व की होती है।

14. अयोगी केवली गुणस्थान–इस गुणस्थान में मन, वचन और काय योग का क्रमशः पूर्णतया निरोध हो जाता है, इसलिए इसे 'अयोगी केवली गुणस्थान' कहा जाता है। यहाँ से जीव सभी कर्मों से मुक्त होकर एक समय की अविग्रह–गति से मोक्ष चला जाता है। इस गुणस्थान की स्थिति पाँच लघु अक्षर–अ, इ, उ, ऋ, लृ का मध्यम रीति से उच्चारण करने में जितना समय लगे, उतनी होती है।

इन गुणस्थानों की जानकारी कर हम हमारी आत्मा के मूल गुण सम्यग्ज्ञान–दर्शन–चारित्र और तप की अभिवृद्धि करते हुए उत्तरोत्तर गुणस्थानों को प्राप्त करें। यह तभी सम्भव है, जब हम आरम्भ–परिग्रह और कषायों को हटाते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्यक् आराधना करेंगे। अतः आत्मा के गुणों को प्रकट करने में अपना प्रबल पुरुषार्थ करने में ही मानव जीवन की सार्थकता एवं सफलता है।

प्रश्न– एक गुणस्थान किनमें पाया जाता है व कौनसा?

उत्तर– अभवी में, मिथ्यात्व गुणस्थान।

प्रश्न– दो गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– (1) केवली में, तेरहवाँ व चौदहवाँ। (2) विकलेन्द्रिय व (3) असन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के अपर्याप्त में (पहला, दूसरा)।

प्रश्न– तीन गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– बाटा बहते जीव में, पहला, दूसरा व चौथा।

प्रश्न– चार गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– देवता–नारकी में, प्रथम चार। यथाख्यात चारित्र में, अन्तिम चार।

प्रश्न– पाँच गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– तिर्यञ्च में, प्रथम पाँच।

प्रश्न– छः गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– प्रमादी व प्रथम तीन लेश्या में, प्रथम छः।

प्रश्न– सात गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– तेजो व पद्म लेश्या में, प्रथम सात।

प्रश्न– आठ गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– अप्रमादी में, 7 से 14 गुणस्थान।

प्रश्न– नौ गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– सवेदी में, प्रथम नौ।

प्रश्न– दस गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– सकषायी में, प्रथम दस।

प्रश्न– ग्यारह गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– क्षायिक सम्यग्दृष्टि में, 4 से 14 गुणस्थान।

प्रश्न– बारह गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– छद्मस्थ में, 1 से 12 गुणस्थान।

प्रश्न– तेरह गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– सयोगी में, 1 से 13 गुणस्थान।

प्रश्न– चौदह गुणस्थान किनमें पाये जाते हैं व कौनसे?

उत्तर– समुच्चय मनुष्य में, 1 से 14 तक।

(12) बारहवें बोले पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और 240 विकार।

इस संसार में जितने भी जीव हैं उन सबको शरीर एवं इन्द्रियाँ मिली हुई हैं। इन्द्रियों की सहायता से वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए जीवन–निर्वाह करते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न–भिन्न विषयों को ग्रहण करती हैं।

विषय–जो इन्द्रियाँ पुद्‌गल के जिन गुण–धर्म को ग्रहण करती हैं, वे उस इन्द्रिय के 'विषय' कहलाते हैं। अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से जीव जिन शब्द, रूप आदि को ग्रहण करता है उसे 'विषय' कहते हैं।

विकार–ग्रहण किये गये विषयों को अच्छा–बुरा मानकर उन पर राग–द्वेष करना 'विकार' कहलाता है।

पाँच इन्द्रियों के 23 विषय और 240 विकार इस प्रकार है–

(1) श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय–जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द।

जीव शब्द–संसारी जीवों से निकलने वाली आवाज को जीव शब्द कहते हैं।

अजीव शब्द–अचेतन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले शब्द अजीव शब्द हैं।

मिश्र शब्द–जीव और अजीव के संयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द मिश्र शब्द हैं। जैसे बाँसुरी या हारमोनियम की आवाज।

विकार–ये 3 शुभ, 3 अशुभ, इन 6 पर राग और 6 पर द्वेष, इस प्रकार 12 विकार।

इन विकारों में सचित्त, अचित्त और मिश्र का अलग से भेद इसलिए नहीं किया गया है कि सचित्त का समावेश जीव में, अचित्त का समावेश अजीव में और मिश्र का समावेश मिश्र में हो जाता है।

(2) चक्षुरिन्द्रिय के पाँच विषय–1. काला, 2. नीला, 3. लाल, 4. पीला और 5. सफेद।

विकार–ये 5 सचित्त, 5 अचित्त और 5 मिश्र। ये 15 शुभ और 15 अशुभ, इन 30 पर राग और 30 पर द्वेष। इस प्रकार 60 विकार।

(3) घ्राणेन्द्रिय के 2 विषय–1. सुरभिगंध, 2. दुरभिगंध।

विकार–ये 2 सचित्त, 2 अचित्त और 2 मिश्र। इन 6 पर राग और 6 पर द्वेष। इस प्रकार 12 विकार।

विकार के भेदों में शुभ और अशुभ का भेद अलग से नहीं लिया गया है क्योंकि सुगंध का तात्पर्य शुभ से और दुर्गन्ध का तात्पर्य अशुभ से है।

(4) रसनेन्द्रिय के पाँच विषय–1. तीखा, 2. कड़वा, 3. कषैला, 4. खट्टा और 5. मीठा।

विकार–ये 5 सचित्त, 5 अचित्त, और 5 मिश्र। ये 15 शुभ और 15 अशुभ, इन 30 पर राग और 30 पर द्वेष। इस प्रकार 60 विकार।

(5) स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय–1. कर्कश (खुरदरा), 2. मृदु (कोमल), 3. लघु (हल्का), 4. गुरु (भारी), 5. शीत (ठण्डा), 6. उष्ण (गर्म), 7. रुक्ष (लूखा) और 8. स्निग्ध (चिकना)।

विकार–ये 8 सचित्त, 8 अचित्त, 8 मिश्र, ये 24 शुभ और 24 अशुभ, इन 48 पर राग और 48 पर द्वेष। इस प्रकार 96 विकार।

◆ **आधार**–प्रज्ञापन सूत्र, पद–15

बारहवें बोल से ज्ञात होता है कि कान शब्द को, आँख रूप को, नाक गन्ध को, जिह्वा रस को और त्वचा स्पर्श को ग्रहण करती है। पुद्गल में शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का गुण है, जिन्हें ये पाँचों इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। जब इन्द्रियाँ स्वयं ही पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, ज्ञान विहीन हैं, तो फिर उनमें जानने–देखने का गुण कहाँ से आया?

समाधान रूप में हमें समझना चाहिए कि जानने–देखने वाला तो जीव है। जीव इन्द्रियों के माध्यम से शब्दादि विषयों को ग्रहण करता है। यदि इन्द्रियाँ ही ग्रहण करती हैं तो फिर इन्द्रियाँ तो मुर्दे व्यक्ति के भी रहती हैं, वे भी विषयों को ग्रहण करतीं, किन्तु ऐसा नहीं होता है। जब तक शरीर में जीव विद्यमान है, तभी तक इन्द्रियों की सहायता से विषयों का ग्रहण होता है। इन्द्रियाँ कमरे की खिड़कियों की तरह हैं, कमरा शरीररूप है एवं कमरे में बैठा व्यक्ति जीवरूप है। कमरे में बैठा व्यक्ति खिड़कियाँ खुली होने पर बाहर की वस्तुओं को आसानी से देख सकता है, उसी प्रकार जीव भी इन्द्रियों के माध्यम से शब्दादि विषयों को ग्रहण करता है।

विषय और विकार के भेदों को देखने से यह ज्ञात होता है कि संसार में कोई भी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श न तो एकान्त शुभ है और न अशुभ है। जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जीव को अनुकूल लगते हैं, वह उनको शुभ मानकर उन पर राग करने लगता है। जो वर्ण आदि उसको प्रतिकूल लगते हैं, उनको अशुभ मानकर उन पर द्वेष करने लग जाता है। अनुकूल व प्रतिकूल मानना जीव के स्वयं के ज्ञान–अज्ञान पर निर्भर करता है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति

को अच्छी लगती है, दूसरे को बुरी लगती है। इतना ही नहीं एक व्यक्ति को जो वस्तु एक समय में अच्छी लगती है, वही कुछ समय बाद स्वार्थ में कमी होते ही बुरी लगने लग जाती है।

यदि हम इस बात को गहराई से समझ लें कि पुद्गलों के विषयों में शुभ–अशुभपना कुछ नहीं है, तो फिर किसी को शुभ मानकर क्यों राग करें, अशुभ मानकर क्यों द्वेष करें। कर्मबन्धन से बचने के लिए राग–द्वेष का त्याग करना आवश्यक है, क्योंकि राग–द्वेष ही कर्म–बन्धन का मूल कारण है।

सामान्यत: विषयों का सेवन करने से विकारों में वृद्धि होती है। क्रोधादि विकारों में कमी लाने हेतु ही विषयों का त्याग किया जाना चाहिए। विषयों का त्याग करने से इन्द्रियाँ वशवर्ती हो जाती हैं, उनसे विकार उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है। जो विषयों का सेवन अधिक करते हैं, उनमें विकार भावना अधिक होती है। विगयों का त्याग–कषायों, विकारों की कमी करने के लिए ही है, ऐसा समझकर, लक्ष्य रखकर, विवेकपूर्वक विषयों का त्याग करना श्रेयस्कर है।

विषयों का त्याग करने से कषायों का त्याग करना सरल हो जाता है, यह भी तभी संभव है, जब ज्ञान व विवेकपूर्वक त्याग किया गया हो। हमें दैनिक जीवन में विषय एवं विकार दोनों को कम करने का लक्ष्य रखना चाहिए, इनमें भी मुख्यता विकारों की कमी को दें, तभी हमारा जीवन सुखी, शान्त एवं आनन्दमय बन सकता है।

प्रश्न– आठ विषय किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में, स्पर्शनेन्द्रिय के।

प्रश्न– तेरह विषय किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– बेइन्द्रिय में, उपर्युक्त आठ व रसना के पाँच।

प्रश्न– पन्द्रह विषय किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तेइन्द्रिय में, उपर्युक्त तेरह व घ्राण के दो।

प्रश्न– बीस विषय किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– चउरिन्द्रिय में, उपर्युक्त पन्द्रह व चक्षु के पाँच।

प्रश्न– 23 विषय किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पंचेन्द्रिय में, उपर्युक्त बीस व श्रोत्र के तीन।

(13) तेरहवें बोले मिथ्यात्व के दस भेद–1. जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 2. अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 3. धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 4. अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 5. साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 6. असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 7. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 8. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 9. आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 10. आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

◆ **आधार**–ठाणांग 10, सूत्र 734।

मिथ्यात्व–वस्तु के अयथार्थ श्रद्धान (पदार्थ जिस रूप में है, उसे उस रूप में नहीं मान कर विपरीत रूप में मानना) 'मिथ्यात्व' है।

प्रत्येक संसारी जीव जन्म, जरा एवं मरण के दुःखों से पीड़ित है। जन्म–जरा–मरण का दुःख, व्याधि एवं उपाधि का त्रिविध ताप अनादि काल

से जीव को संतप्त कर रहा है। सभी जीव मिथ्यात्व एवं अज्ञान के कारण सांसारिक विषयों की अनुकूलता–प्रतिकूलता में सुख–दु:ख की कल्पना करते हुए सुखी–दु:खी होते हैं। मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण ही राग–द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग–द्वेष से अष्टविध कर्मों का बंधन होता है। इन्हीं कर्मों के बंधन के कारण जन्म, जरा और मृत्यु का चक्र चलता ही रहता है। इस चक्र से मुक्त होना प्रत्येक जीव चाहता है, प्रयत्न भी करता है, किन्तु कमी यह रह जाती है कि चक्र के मूल कारण मिथ्यात्व को सही अर्थों में समझ नहीं पाता है। बिना समझे ही पुरुषार्थ करता है, जिस कारण सही परिणाम जो मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाता है। तो आइए, हम इस बोल में मिथ्यात्व को उसके भेदों के माध्यम से समझने का प्रयास करें।

1. जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व–जिसमें चेतना का गुण हो, उपयोग लक्षण वाला हो, जिसमें जानने, देखने और अनुभव करने की शक्ति हो, उनको जीव नहीं मानकर अजीव मान लेना, हमारी आत्मा को शरीर के समान नाशवान और क्षण–भंगुर समझ लेना, एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म जीवों को अजीव मान लेना, ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति को जीव के मूल गुण न मानकर पुद्‌गल के गुण मान लेना आदि 'जीव को अजीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है।

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। संयोग, वियोग, जन्म–मरण, सड़न–गलन आदि प्रक्रिया शरीर में होती है, आत्मा में नहीं। आत्मा, अजर–अमर–अविनाशी तत्त्व है। आत्मा और शरीर की भिन्नता का स्पष्ट एवं अनुभूति परक बोध होना भेद विज्ञान कहलाता है। जब तक आत्मा स्व–पर के भेद–

विज्ञान का वस्तुतः अनुभव नहीं कर लेती तब तक मिथ्यात्व समाप्त नहीं होता है।

2. अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व–जड़ पदार्थों को जिनमें चेतना, उपयोग आदि गुण नहीं हो उन्हें जीव मानना 'अजीव को जीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं अष्टविध कर्म, ये सभी रूपी हैं, पुद्गल रूप हैं, सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाले होने से जड़ हैं। संयोगी होने से इनका वियोग निश्चित है। किन्तु अनादिकाल से जीव के साथ शरीर, इन्द्रियाँ आदि संयोग होने के कारण अज्ञानी जीव इन शरीर आदि को जीवरूप ही मान लेता है। शरीर आदि के विकास एवं विनाश में ही आत्मा का, आत्म–स्वरूप का विकास एवं विनाश समझ लेना भी 'अजीव को जीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

3. धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व–धर्म अहिंसा, संयम एवं तपरूप होता है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना करना धर्म है। क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता आदि दस लक्षणों को धारण करना धर्म है। इन सभी को धर्म न मानकर अधर्म मानना मिथ्यात्व है। सद्गति में ले जाने वाले कारणों को दुर्गति के कारण मानना व मोक्ष प्राप्ति में हेतुभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र को संसार बढ़ाने के कारण मानना मिथ्यात्व है।

आत्मा के सहज स्वभाव में रमण करना आत्म–धर्म है। समभाव में धर्म न मानकर राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह के सेवन करने में धर्म मानना 'धर्म को अधर्म श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

4. अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व–हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पापों का सेवन करना अधर्म है, पाप है, इन्हें धर्मरूप मानकर श्रद्धान करना भी मिथ्यात्व है। रागी, द्वेषी, मानी, मायावी, लोभी एवं कामी पुरुषों द्वारा कहे गये वचनों को उपादेय मानना, धर्म मानना, धर्म के नाम पर यज्ञ, पूजा आदि में होने वाली जीवों की हिंसा को अधर्म न मानकर धर्म रूप मानना, धर्म के नाम पर आडम्बर, प्रदर्शन एवं बड़े–बड़े समारोहों में होने वाले आरम्भ–समारम्भ आदि पापकारी प्रवृत्तियों को भी धर्म मानना, 'अधर्म को धर्म श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

5. साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व–वीतराग धर्म की पूर्ण निर्मल साधना करने वाले साधक को साधु कहते हैं। जो साधुत्व के गुणों अर्थात्– पाँच महाव्रत, पाँच समिति–तीन गुप्ति, पाँच आचार, पाँच इन्द्रिय दमन, नवबाड़ सहित ब्रह्मचर्य, बारह प्रकार का तप, सतरह प्रकार का संयम पालन करते हुए आत्मभाव में लीन रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। ऐसे वीतराग धर्म की साधना करने वाले स्व–पर हित साधने वाले साधुओं को असाधु मानना 'साधु को असाधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

6. असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व–जो वीतराग मार्ग की साधना नहीं करते, त्याग मार्ग की आराधना नहीं करके भोग मार्ग पर लगे हैं, शरीर, इन्द्रियों, मन एवं आत्मा पर जिनका विवेकपूर्वक संयम नहीं है, ऐसे भोगी, रागी, कपटी लोगों को उत्तम, मंगल एवं शरणरूप साधु मानना, 'असाधु को साधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, चारों कषायों में लिप्त रहने वाले, प्रमादी जीवन व्यतीत करने वाले असाधुओं को साधु मानना, 'असाधु को साधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

7. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व– मिथ्या या असम्यग्ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना करना, आरम्भ–परिग्रह का सेवन करना, इन्द्रिय–विषयों में आसक्त रहना, क्रोधादि कषायों का सेवन करना संसार का मार्ग है। इन कार्यों को करने से संसार के जन्म–मरणरूप विष–वृक्ष का सिंचन होता है, जिसके परिणामस्वरूप संसार परिभ्रमण बढ़ता ही जाता है। किन्तु अज्ञानवश मूढ़ प्राणी इन कार्यों को सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति का मार्ग समझ लेता है, एवं इनका सेवन करने में व्यस्त रहता है। मूढ़प्राणी की यह मान्यता या दृष्टिकोण ही 'संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

8. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व– तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा है– ''सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः'' अर्थात्–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग कहलाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों मिलकर भी मोक्ष का मार्ग कहा गया है। ज्ञान द्वारा आत्मा स्व व पर पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को पहचानती है, दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के प्रवेश को रोककर स्व में स्थित होती है और तप द्वारा पुराने कर्मों का विनाश कर आत्मा शुद्ध होती है, निर्मल होती है। यही मोक्ष का मार्ग है। इसी मार्ग पर चलकर जीव सभी दुःखों से, कर्मों से मुक्त हो सकता है। ऐसे सच्चे मार्ग को संसार बढ़ाने वाला, भव–भ्रमण करने वाला माने तो 'मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

9. आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व–जिन महापुरुषों ने विशिष्ट संवर व निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का अन्त कर दिया है। ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मों से, राग द्वेषादि भाव कर्मों से सदैव के लिए मुक्त होकर केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्रकट किये हुए हैं। अपने अनन्त आत्म–स्वरूप में हमेशा स्थिर रहते हैं, जो पूर्णतया स्वाधीन हैं, पर का अवलम्बन लेशमात्र भी नहीं है, जिन्हें कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं है जो कृत–कृत्य हो चुके हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान को सरागी देवों के समान कर्म सहित समझ लेना, 'मुक्त को अमुक्त श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

10. अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व–जो आत्माएँ राग द्वेषादि भाव कर्मों से, ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मों से मुक्त नहीं हैं। जो देवी–देवता, जन्म–मरण के चक्र में उलझे हुए हैं, ऊँच–नीच की, यश–अपयश की कामना जिनके अन्तर में विद्यमान है, जो शरीर, संसार और कर्म से मुक्त नहीं हैं, ऐसे सरागी देवों को सिद्धों के समान मुक्त समझ लेना, आराध्य समझ लेना, 'अमुक्त को मुक्त श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

महत्त्व एवं उपयोगिता–इस बोल के माध्यम से यह जाना जा सकता है कि तत्त्व सम्बन्धी मिथ्या मान्यताएँ कितने प्रकार की हो सकती हैं, उनका स्वरूप क्या है? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है? इस बोल का विशिष्ट गहन ज्ञान प्राप्त कर अपने अन्तर में रहे मिथ्यात्वरूपी महा भयानक शत्रु को बाहर निकालकर आत्म–गुणों को सुरक्षित किया जा सकता है।

(14) चौदहवें बोले छोटी नव तत्त्व के 115 भेद

नवतत्त्व के नाम–1. जीव तत्त्व, 2. अजीव तत्त्व, 3. पुण्य तत्त्व, 4. पाप तत्त्व, 5. आस्रव तत्त्व, 6. संवर तत्त्व, 7. निर्जरा तत्त्व, 8. बन्ध तत्त्व और 9. मोक्ष तत्त्व।

◆ **आधार**–ठाणांग सूत्र 9वाँ स्थान।

इनके भेद–जीव के 14, अजीव के 14, पुण्य के 9, पाप के 18, आस्रव के 20, संवर के 20, निर्जरा के 12, बन्ध के 4 और मोक्ष के 4 भेद ये कुल 115 हुए।

तत्त्व–

1. संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनके सारभूत स्वरूप को अथवा पदार्थ के भाव को 'तत्त्व' कहते हैं।
2. जिसको जानने से मोक्षरूप महाप्रयोजन की सिद्धि होती हो, वह भी 'तत्त्व' है।
3. जिसके जानने से पदार्थों का यथार्थ निर्णय होकर विवेक दृष्टि उत्पन्न हो, वह 'तत्त्व' कहलाता है।
4. जो जीव को संसार से मुक्त कराने एवं निज स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने में सहायक हो, वह भी 'तत्त्व' कहलाता है।

नव तत्त्वों के भेद–

1. जीव तत्त्व–जिसमें जानने, देखने और अनुभव करने की शक्ति हो, जिसमें चेतना गुण हो, उपयोग लक्षण हो, जो सुख–दुःख का, पाप–पुण्य का स्वयं कर्त्ता एवं भोक्ता हो ऐसे असंख्यात प्रदेशी, अरूपी, शाश्वत

अखण्ड तत्त्व को जीव तत्त्व कहते हैं। जीव के मुख्यत: दो भेद–सिद्ध एवं संसारी।

संसारी जीवों के चौदह भेद इस प्रकार हैं–

(1) सूक्ष्म एके. का अपर्याप्त।	(2) सूक्ष्म एके. का पर्याप्त।
(3) बादर एके. का अपर्याप्त।	(4) बादर एके. का पर्याप्त।
(5) बेइन्द्रिय का अपर्याप्त।	(6) बेइन्द्रिय का पर्याप्त।
(7) तेइन्द्रिय का अपर्याप्त।	(8) तेइन्द्रिय का पर्याप्त।
(9) चउरिन्द्रिय का अपर्याप्त।	(10) चउरिन्द्रिय का पर्याप्त।
(11) असंज्ञी पंचे. का अपर्याप्त।	(12) असंज्ञी पंचे. का पर्याप्त।
(13) संज्ञी पंचे. का अपर्याप्त।	(14) संज्ञी पंचे. का पर्याप्त।

इन चौदह भेदों में चारों गति के जीव सम्मिलित हो जाते हैं। यह जीव तत्त्व ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति इन चार भाव प्राणों से त्रिकाल जीवित रहता है।

◆ **आधार**–समवायांग–14, भगवती शतक 25 उद्दे.।

2. अजीव तत्त्व : अचेतन तत्त्व–

जो चेतना गुण से रहित हो, सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाला हो, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त हो अथवा इन वर्णादि से रहित होकर भी उपयोग लक्षण से हीन हो, जिसमें जड़त्व भाव हो ऐसे पदार्थों को 'अजीव तत्त्व' कहते हैं। इनमें संवेदन, सहनशीलता और समता जैसे गुणों का अभाव होता है। ये ज्ञान, दर्शन और अनुभव शक्ति से रहित होते हैं। अजीव तत्त्व के मूलत: 2 भेद हैं–रूपी अजीव और अरूपी अजीव। जिसमें वर्ण, गंध, रस,

स्पर्श और संस्थान पाये जाते हैं उन्हें रूपी अजीव कहते हैं और जिनमें ये नहीं पाये जाते, उन अजीव पदार्थों को अरूपी अजीव कहते हैं।

अरूपी अजीव के 10 भेद होते हैं–

धर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश, प्रदेश।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश, प्रदेश।

आकाशास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश, प्रदेश और दसवाँ कालद्रव्य।

रूपी पुद्गल (अजीव) के चार भेद होते हैं–स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। इस प्रकार अजीव तत्त्व के चौदह भेद होते हैं।

अरूपी अजीव के 10 भेद स्वभाव में ही परिणमन करते रहते हैं। इनका सीधा सम्बन्ध भी आत्मा से नहीं है। रूपी पुद्गल लोक में अनन्त हैं, वे स्वभाव व विभाव दोनों रूप में परिणमन करते रहते हैं।

संसारी जीव सशरीरी होने से इस अजीव तत्त्व में से इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गल के भोग को अपना भोग मानता है और सुख की प्रतीति करता है, किन्तु इन पुद्गलों में सुख नाम का गुण ही नहीं है। सुख तो आत्मा का गुण है। अत: जीव और अजीव तत्त्व का वास्तविक स्वरूप समझकर ही श्रद्धान करना चाहिए। रागादि विकारी भावों का त्याग कर शुद्ध एवं शुभ भावों में रमण करना चाहिए।

3. पुण्य तत्त्व–

जो आत्मा को पवित्र करे अर्थात् अशुभ से बचाये, शुभ में लगाये। जिसको बाँधना दुर्लभ किन्तु भोगना सुलभ हो, जिसका फल मीठा अर्थात्

अनुकूल प्रतीत होता हो उसे 'पुण्य तत्त्व' कहते हैं। यह तत्त्व धर्म की साधना और आराधना में सहायक बनता है। पुण्य के प्रभाव से शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि विकास को प्राप्त होते हैं और यदि जीव चाहे तो इनका धर्म-कार्य में सदुपयोग करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। पुण्य तत्त्व साधना में कहीं भी बाधक नहीं है। पुण्य का भोग करना बाधक है क्योंकि उससे पाप का बंध होता है। ज्यों-ज्यों जीव गुणस्थानों में ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों पुण्य के अनुभाग में भी वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञान प्राप्ति के समय पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है इसीलिए यह कहा जा सकता है कि पुण्य तत्त्व हेय न होकर धर्म में सहायक होने से उपादेय है।

इस तत्त्व का बंध 9 प्रकार से होता है-

1. अन्न पुण्य-अन्न देने से पुण्य होता है।

2. पान पुण्य-पानी पिलाने से पुण्य होता है।

3. लयन पुण्य-जगह, स्थान देने से पुण्य होता है।

4. शयन पुण्य-शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से पुण्य होता है।

5. वस्त्र पुण्य-वस्त्र देने से पुण्य होता है।

6. मन पुण्य-शुभ मन रखने से, दान-शील-तपरूप मन रखने से पुण्य होता है।

7. वचन पुण्य-मुख से शुभ वचन बोलने से पुण्य होता है।

8. काय पुण्य-काय द्वारा दया, सेवा, विनय, वैयावच्च करने से पुण्य होता है।

9. नमस्कार पुण्य-गुणवान् को नमस्कार करने से पुण्य होता है।

◆ **आधार**–ठाणांग 9 सूत्र 676।

4. पाप तत्त्व–

जो आत्मा को नीचे गिराये, नरक आदि दुर्गतियों में ले जाये, आत्मा को मलिन करे, कर्मों के बोझ से भारी बनाये उसे 'पाप तत्त्व कहते हैं। इस तत्त्व का उपार्जन सुखरूप तथा उपभोग या उदय दु:खरूप होता है। यह तत्त्व इस भव तथा परभव दोनों में दु:खद होने से जन्म–मरणरूपी विष–वृक्ष को निरन्तर बढ़ाते रहने से एकान्त हेय माना गया है।

इसका बंध अठारह प्रकार से होता है।

1. **प्राणातिपात**–जीवों की हिंसा करने से।
2. **मृषावाद**–असत्य–झूठ बोलने से।
3. **अदत्तादान**–चोरी करने से।
4. **मैथुन**–कुशील सेवन करने से।
5. **परिग्रह**–धन, संग्रह की लालसा रखने से।
6. **क्रोध**–रोष, गुस्सा करने से।
7. **मान**–अहंकार करने से।
8. **माया**–छल–कपट करने से।
9. **लोभ**–लालच–तृष्णा बढ़ाने से।
10. **राग**–प्रिय (मनोज्ञ) वस्तु पर स्नेह रखने से।
11. **द्वेष**–अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष करने से।
12. **कलह**–क्लेश करने से।
13. **अभ्याख्यान**–झूठा कलंक लगाने से।

14. पैशुन्य–चुगली करने से।

15. परपरिवाद–दूसरे की निन्दा करने से।

16. रति–अरति–मनोज्ञ वस्तुओं पर प्रसन्न और अमनोज्ञ वस्तुओं पर नाराज होने से।

17. माया–मृषावाद–छल–कपट के साथ झूठ बोलने से।

18. मिथ्यादर्शन शल्य–कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखने से।

◆ **आधार**–भगवती सूत्र शतक 1 उद्दे. 9।

अठारह भेदों में मिथ्या–दर्शन शल्य नामक अन्तिम पाप मुख्य एवं सब पापों की जड़ है। प्राय: जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का त्याग तो कर देता है परन्तु अन्तर में रहे अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान एवं अश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शन शल्य को नहीं निकाल पाता। इस कारण भव–भ्रमण रूक नहीं पाता है। अत: पाप बन्धन के मूल कारण को सम्यक् रूप से समझकर उसका त्याग करना आवश्यक है।

5. आस्रव तत्त्व–

जिन कारणों से आत्मा पर कर्म पुद्गलों का आगमन होता है, उन कारणों को आस्रव तत्त्व कहते हैं। जीवरूप तालाब में शुभ–अशुभरूप जल, राग–द्वेष आदि आस्रव द्वाररूप नाली से आता रहता है। आस्रव से आत्मा मलिन बनता है, क्योंकि आस्रव से कर्मों का निरन्तर संचय होता रहता है।

आस्रव के 20 भेद इस प्रकार हैं–

1. मिथ्यात्व–मिथ्यात्व का सेवन करे तो आस्रव।

2. अव्रत–व्रत, पच्चक्खाण नहीं करे तो आस्रव।

3. **प्रमाद**–पाँच प्रकार का प्रमाद सेवे तो आस्रव।

4. **कषाय**–क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करे तो आस्रव।

5. **अशुभ योग**–मन, वचन और काय द्वारा अशुभ प्रवृत्तियाँ करे तो आस्रव।

6. **प्राणातिपात**–जीव हिंसा करे तो आस्रव।

7. **मृषावाद**–झूठ बोले तो आस्रव।

8. **अदत्तादान**–चोरी करे तो आस्रव।

9. **मैथुन**–कुशील सेवन करे तो आस्रव।

10. **परिग्रह**–धन–संग्रह की लालसा रखे तो आस्रव।

11. **श्रोत्रेन्द्रिय** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

12. **चक्षुरिन्द्रिय** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

13. **घ्राणेन्द्रिय** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

14. **रसनेन्द्रिय** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

15. **स्पर्शनेन्द्रिय** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

16. **मन** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

17. **वचन** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

18. **काया** को वश में नहीं रखे तो आस्रव।

19. **भंड उपकरण** अयतना से लेवे और अयतना से रखे तो आस्रव।

20. **सुई कुशाग्र मात्र कोई भी वस्तु** अयतना से लेवे और अयतना से रखे तो आस्रव।

◆ **आधार**–ठाणांग सूत्र 5वाँ एवं 10वाँ स्थान।

पाँच इन्द्रियों के भोगविलास में लगे रहना, उन पर अंकुश नहीं रखना,

हिंसा, असत्य आदि का आचरण करना, मन, वचन और काया को वश में नहीं रखना, ये सब आस्रव के कारण हैं।

6. संवर तत्त्व–

जिन कारणों से आत्मा पर आने वाले कर्म–पुद्गलों को रोका जा सके, उन्हें 'संवर तत्त्व' कहते हैं। जीवरूपी तालाब में आस्रवरूपी नालों के द्वारा आता हुआ कर्मरूपी पानी संवररूपी पाटिया से रूकता है। अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वस्त्र, पात्र भण्डोपकरण आदि पर संयम रखना, समिति और गुप्ति में उपयोगवान् रहना 'संवर तत्त्व' कहलाता है। यह तत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी है, क्योंकि जब तक कर्मों का संवर नहीं होगा तब तक जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर सकेगा। यह तत्त्व सम्यक्त्वपूर्वक व्रत ग्रहण करने पर ही प्राप्त होता है। यदि जीवन में कर्मों का बंध होता जाये, बंधे कर्मों की निर्जरा होती जाये और संवर नहीं हो तो जीव की तीन काल में मुक्ति नहीं हो सकती। इस अपेक्षा से संवर तत्त्व को सबसे प्रमुख माना जाता है। आस्रव का निरोध संवर है। जिन कारणों से आस्रव को रोका जाता है वे संवर कहे जाते हैं। संवर से आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनती है। संवर की साधना में कर्ममल आत्मा में नहीं आ पाता। संवर मोक्ष का कारण है।

संवर के 20 भेद इस प्रकार से हैं–

1. **सम्यक्त्व**–मिथ्यात्व का त्याग करे तो संवर।
2. **विरति**–अविरति का त्याग करे तो संवर।
3. **अप्रमाद**–प्रमाद का त्याग करे तो संवर।

4. **अकषाय**–कषाय का त्याग करे तो संवर।

5. **शुभयोग**–अशुभयोगों का त्याग करे तो संवर।

6. **अप्राणातिपात**–जीव की हिंसा का त्याग करे तो संवर।

7. **अमृषावाद**–झूठ बोलने का त्याग करे तो संवर।

8. **अअदत्तादान**–चोरी का त्याग करे तो संवर।

9. **अमैथुन**–कुशील का त्याग करे तो संवर।

10. **अपरिग्रह**–ममत्व (लालसा) का त्याग करे तो संवर।

11. **श्रोत्रेन्द्रिय** वश में करे तो संवर।

12. **चक्षुरिन्द्रिय** वश में करे तो संवर।

13. **घ्राणेन्द्रिय** वश में करे तो संवर।

14. **रसनेन्द्रिय** वश में करे तो संवर।

15. **स्पर्शनेन्द्रिय** वश में करे तो संवर।

16. **मन** वश में करे तो संवर।

17. **वचन** वश में करे तो संवर।

18. **काया** को वश में करे तो संवर।

19. **भंड उपकरण** यतना से लेवे और यतना से रखे तो संवर।

20. **सूई कुशाग्र मात्र** यतना से लेवे और यतना से रखे तो संवर।

◆ **आधार**– ठाणांग सूत्र 5वाँ एवं 10वाँ स्थान, प्रश्न–व्याकरण, समवायांग 5।

संवर तत्त्व की यह उपादेयता है कि इसके स्वरूप को भली–भाँति

हृदयंगम कर आचरण में लिया जाय। पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस उत्तम धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह विजय आदि संवर की आराधना के प्रमुख साधन बतलाये गये हैं।

7. निर्जरा तत्त्व–

जिन क्रियाओं से आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म–पुद्गलों को अंशत: अलग या क्षीण किया जाता हैं, उन्हें 'निर्जरा तत्त्व' कहते हैं। निर्जरा आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में लाने की आध्यात्मिक क्रिया है, जिससे आत्मा के चारों ओर विद्यमान कर्मों को तपादि द्वारा अलग कर दिया जाता है। कर्मों को अलग हटाने का प्रमुख उपाय तप है। तप से आत्मा निर्मल बनकर सिद्धि को प्राप्त कर लेती है। निर्जरा का प्रमुख कारण तप होने से तप के भेदों को ही निर्जरा के भेद कहे गये हैं। निर्जरा दो प्रकार की होती है–

1. सकाम निर्जरा–सम्यक्त्व के सद्भाव में जो व्रत–नियम, त्याग, तप आदि किया जाता है, उनसे होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'सकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा ही मुक्ति को प्राप्त कराने में सहायक बनती है।

2. अकाम निर्जरा–मिथ्यात्व और अज्ञान के सद्भाव में होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा पराधीनतापूर्वक या अज्ञानपूर्वक तप करने से होती है। दूसरी अपेक्षा से प्रत्येक जीव के बंधे हुए कर्म उदय में आकर आत्मा से अलग होते रहते हैं, उसे भी 'अकाम निर्जरा' कहते हैं।

तप के मूलत: दो भेद हैं–

1. बाह्य तप–शरीर तथा इन्द्रियों के निग्रह और नियन्त्रण के लिए

की जाने वाली क्रियाएँ जिनका प्रभाव शरीरादि पर बाहर दिखाई दे तथा जो कर्मक्षय एवं आत्म विकास का कारण भी हो, उसे 'बाह्य तप' कहते हैं। इसके छः भेद निम्न हैं–

(1) **अनशन**–चार प्रकार के या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना।

(2) **ऊनोदरी**–भोजन की अधिक रुचि होने पर भी कम भोजन करना।

(3) **भिक्षाचर्या**–शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना।

(4) **रसपरित्याग**–विगयादि का त्याग करना, स्वाद पर विजय करना।

(5) **कायक्लेश**–वीरासन आदि कष्टप्रद क्रिया करना।

(6) **प्रतिसंलीनता**–इन्द्रियों को वश में करना तथा कषाय और योगों को रोकना।

2. आभ्यन्तर तप–चित्त निरोध की प्रधानता द्वारा कर्मक्षय एवं आत्मगुणों का विकास करने वाली क्रियाएँ 'आभ्यन्तर तप' हैं। इसमें चित्त विशुद्धि प्रमुख है। इसके छः भेद निम्न हैं–

(1) **प्रायश्चित्त**–लगे हुए दोषों की आलोचना करके आत्मा को शुद्ध करना। (7)

(2) **विनय**–गुरु आदि की भक्तियुक्त अभ्युत्थानादि से आदर सत्कार एवं विनय करना। (8)

(3) **वैयावृत्त्य**–आचार्यादि की सेवा करना। (9)

(4) स्वाध्याय–शास्त्र की वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा करना। (10)

(5) ध्यान–मन को एकाग्र करके शुभ विचारों में लगाना। (11)

(6) व्युत्सर्ग–काय की ममता एवं काय के व्यापार का त्याग करना (12)। शरीर के प्रति लेश मात्र भी आसक्ति न रहे ऐसा तप करना। इस प्रकार तप के कुल बारह उत्तर भेद होते हैं।

◆ **आधार**–भगवती श. 25 उद्दे. 7, उत्तरा. अ. 30।

8. बन्ध तत्त्व–

कर्म–पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध–पानी की तरह अथवा लोहपिण्ड–अग्नि की तरह सम्बद्ध होना, 'बंध तत्त्व' है।

कषाय और योग से आत्म–प्रदेशों में जब कंपन होता है, तब आत्मा के साथ कर्म का बंध होता है। जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूल में लेटता है तो धूल उसके शरीर से चिपक जाती है। कर्म–बंध के दो मुख्य कारण राग व द्वेष हैं।

बंध तत्त्व के चार भेद इस प्रकार हैं–

1. प्रकृति बन्ध–आत्मा पर बंधने वाले कर्म–पुद्गल आत्मा के जिस गुण को प्रभावित करते हैं, ढ़ँकते हैं, उसे उन कर्म–पुद्गलों का प्रकृति बंध कहते हैं। जैसे ज्ञान गुण को प्रभावित करने वाले कर्म–पुद्गलों का बन्ध होना उनका 'प्रकृति बन्ध' है।

2. स्थिति बन्ध–बंधने वाले कर्म–पुद्गल जितने समय तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं उस समयावधि को 'स्थिति बंध' कहते हैं।

3. अनुभाग बन्ध–बंधे हुए कर्म–पुद्‌गलों का फल अथवा रस कड़वा या मीठा, सातारूप या असातारूप होता है, उसे 'अनुभाग बंध' कहते हैं। आठ कर्मों के तीव्र–मंदादि रस को 'अनुभाग बंध' कहते हैं।

4. प्रदेश बन्ध–जितने कार्मण–पुद्‌गल आकर आत्मा पर चिपकते हैं, उनकी संख्या को 'प्रदेश बंध' कहते हैं। जब कभी कर्मों का बंध होता है तो अनन्तानन्त कर्म–पुद्‌गल आत्मा पर आकर चिपक जाते हैं।

◆ **आधार**–ठाणांग 4 सूत्र 296।

इनमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध का कारण योग तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध का कारण कषाय है।

9. मोक्ष तत्त्व–

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष तत्त्व है। आस्रवों को रोककर संवर और निर्जरा के द्वारा संचित कर्मों का जड़मूल से क्षय कर देना 'मोक्ष तत्त्व' कहलाता है। मोहनीय कर्म का सम्पूर्णतः क्षय हो जाना मोक्ष है। शरीर, कषाय और कर्म इन तीनों से मुक्त होकर शाश्वत सिद्धि को प्राप्त करना 'मोक्ष' है।

मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय इस प्रकार है–

1. सम्यक् ज्ञान–जिन पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही जानना या मोक्ष व मोक्ष के उपायों को सम्यक् रूप से जानना 'सम्यग्ज्ञान' है।

2. सम्यक् दर्शन–जिनेश्वर भगवान के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा रखना 'सम्यग्दर्शन' है।

3. सम्यक् चारित्र–दर्शन और ज्ञानपूर्वक महाव्रतादि का आचरण करने को 'सम्यक् चारित्र' कहते हैं।

4. सम्यक् तप–पूर्वबद्ध कर्मों को सम्यक् प्रकार से क्षीण एवं आत्मा से अलग करना 'सम्यक् तप' है।

◆ **आधार**–उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28।

ये चारों मिलकर जब परिपूर्णरूप में आत्मा में प्रकट हो जाते हैं, उस समय जीव की प्राप्त होने वाली अवस्था को 'मोक्ष तत्त्व' कहते हैं।

नव तत्त्वों का क्रम–मोक्ष का अधिकारी होने एवं अन्य सभी तत्त्वों का ज्ञाता हो सकने के कारण सर्वप्रथम जीव तत्त्व की विवेचना की गयी है। जीव का विरोधी तत्त्व बतलाने हेतु दूसरा अजीव तत्त्व बतलाया गया है। जीव और अजीव के संयोग से ही शुभाशुभ भाव उत्पन्न होते हैं। इन भावों से ही पुण्य व पाप का बन्ध होता है, इस कारण जीव व अजीव के बाद पुण्य व पाप तत्त्व का कथन किया गया है। पुण्य व पाप का बन्ध किन कारणों अर्थात् हेतुओं से होता है, उसका परिज्ञान कराने के लिए आस्रव तत्त्व की विवेचना की गयी है। कर्मों के आगमन को अर्थात् कर्मास्रव को किन उपायों से रोका जा सकता है, इसकी जानकारी हेतु आस्रव तत्त्व के पश्चात् संवर तत्त्व की विवेचना की गयी है।

कर्मों के आस्रव को रोकने के उपरान्त पूर्व संचित कर्मों का क्षय होना भी आवश्यक है, तभी आत्मा शुद्ध बन सकती है। अत: कर्मों के भार को कम करने, हटाने के लिए संवर के बाद निर्जरा तत्त्व का कथन किया गया है। संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षमार्ग में उपादेय है, इसलिए भी संवर के बाद निर्जरा तत्त्व का कथन किया गया है।

जब तक कर्मों का बंध चालू रहता है तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अत: मोक्ष के पहले बंध का रुकना आवश्यक है, इसलिए मोक्ष के

पूर्व बंध तत्त्व का कथन किया गया है। कर्मों के बन्धनों से सर्वथा छुटकारा हो जाने पर सम्पूर्ण कर्म क्षय होते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अत: बंध के बाद मोक्ष तत्त्व बतलाया गया है।

मोक्षावस्था, सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने के बाद कुछ भी करना, पाना, जानना शेष नहीं बचता है, सर्व कार्यों की सिद्धि हो जाती है। अत: मोक्ष तत्त्व का सबसे अन्तिम तत्त्व के रूप में निरूपण किया गया है।

नव तत्त्वों का महत्त्व–

जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों का ज्ञान प्रत्येक मुमुक्षु को होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन तत्त्वों के परिज्ञान से यह जाना जा सकता है कि मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी कौन है, कौन–कौन से कारण मोक्ष प्राप्ति में बाधक बनते हैं, किन–किन की आराधना से मोक्ष–प्राप्ति शीघ्र और सुगम हो सकती है।

जीव के 14 भेद सम्बन्धी प्रश्नोत्तर–

प्रश्न– जीव का एक भेद किसमें पाया जाता है?

उत्तर– केवली में (संज्ञी पंचे. का पर्याप्त)।

प्रश्न– जीव के दो भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– संज्ञी में (13, 14)।

प्रश्न– जीव के तीन भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मनुष्य में (11, 13, 14)।

प्रश्न– जीव के चार भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में (1 से 4)।

प्रश्न– जीव के पाँच भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– भाषक में (6, 8, 10, 12, 14)।

प्रश्न– जीव के छः भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सम्यग्दृष्टि में (5, 7, 9, 11, 13, 14)।

प्रश्न– जीव के सात भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पर्याप्त में (2, 4, 6, 8, 10, 12, 14)।

प्रश्न– जीव के आठ भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अनाहारक में (1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 14)।

प्रश्न– जीव के नौ भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– औदारिक मिश्र में (1, 3, 4, 5, 7, 9, 11, 13, 14)।

प्रश्न– जीव के दस भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– त्रस काय में (5 से 14 तक)।

प्रश्न– जीव के ग्यारह भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकान्त तिर्यञ्च में (एक से दस व 12)।

प्रश्न– जीव के बारह भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– बादर जीवों में (3 से 13)।

प्रश्न– जीव के तेरह भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकान्त छद्मस्थ जीव में (1 से 13)।

प्रश्न– जीव के चौदह भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सकषायी में।

अजीव के 14 भेद सम्बन्धी प्रश्नोत्तर–

प्रश्न– अजीव का एक भेद किसमें पाया जाता है?

उत्तर– अप्रदेशी द्रव्य में (काल)।

प्रश्न– अजीव के दो भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अलोक में (आकाश का देश, प्रदेश)।

प्रश्न– अजीव के तीन भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– धर्मास्तिकाय में (स्कन्ध, देश, प्रदेश)।

प्रश्न– अजीव के चार भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पुद्‌गलास्तिकाय में (स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु)।

प्रश्न– अजीव के पाँच भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पुद्‌गलास्तिकाय की स्थिति में चार पुद्‌गल के और काल।

प्रश्न– अजीव के छः भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अढ़ाई द्वीप के बाहर अरूपी अजीव में (धर्म, अधर्म एवं आकाशास्तिकाय तीनों के देश और प्रदेश)।

प्रश्न– अजीव के सात भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अढाई द्वीप के अन्दर अरूपी अजीव में (उपर्युक्त 6 + काल)।

प्रश्न– अजीव के आठ भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एक आकाश प्रदेश पर (पुद्‌गल के चारों + धर्मास्तिकाय का प्रदेश + अधर्मास्तिकाय का प्रदेश + काल)।

प्रश्न– अजीव के नौ भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एक द्रव्य वाले अजीव में (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय के तीन–तीन भेद)।

प्रश्न– अजीव के दस भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अरूपी अजीव में (उपर्युक्त नौ + काल)।

प्रश्न– अजीव के ग्यारह भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मनुष्य लोक में (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशा–स्तिकाय के देश, प्रदेश, पुद्‌गलास्तिकाय के चारों भेद व काल)।

प्रश्न– अजीव के बारह भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– लोक के सप्रदेशी द्रव्यों में (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के तीनों भेद, आकाशास्तिकाय के देश, प्रदेश, पुद्‌गल के चारों भेद)।

प्रश्न– अजीव के तेरह भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– लोक में (आकाशास्तिकाय के स्कन्ध को छोड़कर)।

प्रश्न– अजीव के चौदह भेद किसमें पाये जाते हैं?

उत्तर– लोकालोक में।

(15) पन्द्रहवें बोले आत्मा आठ–1. द्रव्य आत्मा, 2. कषाय आत्मा, 3. योग आत्मा, 4. उपयोग आत्मा, 5. ज्ञान आत्मा, 6. दर्शन आत्मा, 7. चारित्र आत्मा और 8. वीर्य आत्मा।

◆ **आधार**–भगवती श. 12 उद्देशक 10।

आत्मा–जो ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायों में निरन्तर रमण करे, गमन करे उसे 'आत्मा' कहते हैं। असंख्यात आत्म–प्रदेशों का ऐसा समूह जिसमें चेतना का गुण सदैव विद्यमान रहता है उसे 'आत्मा' कहते हैं। आत्मा के आठ भेद इस प्रकार हैं–

1. द्रव्य आत्मा–असंख्यात प्रदेशों का ऐसा अखण्ड और अमूर्त स्वरूप जो ज्ञान–दर्शन के गुणों से युक्त है, शाश्वत है, उसे 'द्रव्य आत्मा कहते हैं। संसारी एवं सिद्ध सभी में यह आत्मा पायी जाती है। आत्मा का एक भी प्रदेश आत्मा से कभी अलग नहीं होता है।

2. कषाय आत्मा–क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों की तीव्रता के आधार पर आत्मा को 'कषाय आत्मा' कहा जाता है। जब तक कषायों का उदय रहता है, तब तक यह आत्मा रहती है। यह आत्मा दसवें गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।

3. योग आत्मा–जब आत्मा के साथ मन, वचन और काय की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है तब योगों की प्रमुखता के आधार पर उसे 'योग आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।

4. उपयोग आत्मा–जब आत्मा में जानने और देखने की प्रवृत्ति विशेषरूप से होती है, तब उस आत्मा को 'उपयोग आत्मा' कहा जाता है। यह आत्मा सिद्ध व संसारी सभी जीवों में पाई जाती है।

5. ज्ञान आत्मा–जब आत्मा में नवतत्त्व और षट्द्रव्य का, देव–गुरु–धर्म और आत्म–स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब उसे 'ज्ञान आत्मा' कहते हैं अर्थात् समकित के साथ होने वाले पदार्थों की जानकारी ज्ञान आत्मा का लक्षण है। यह आत्मा सम्यग् दृष्टि जीवों में ही पायी जाती है, मिथ्यात्वी में नहीं।

6. दर्शन आत्मा–जब आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा पदार्थों का सामान्य बोध प्राप्त करती है तब उसे दर्शन आत्मा कहते हैं यह आत्मा सिद्ध और संसारी जीवों में पायी जाती है। यहाँ दर्शन से तात्पर्य श्रद्धा गुण से न होकर दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सामान्य अनुभूतिरूप दर्शन से है।

7. चारित्र आत्मा–जब आत्मा में त्याग–प्रत्याख्यानरूप विरति भाव

तीन–करण, तीन–योग से जीवन पर्यंत के लिए प्रकट हो जाते हैं, तब उसे 'चारित्र आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।

8. वीर्य आत्मा–जब आत्मा में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन पाँच शक्तियों को प्रकट करने में पुरुषार्थ होता है, तब उसे 'वीर्य आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा सभी संसारी जीवों में पायी जाती है सिद्धों में नहीं।

प्रश्न– आत्मा के चार भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सिद्धों में (द्रव्य, ज्ञान, दर्शन और उपयोग)।

प्रश्न– आत्मा के छः भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मिथ्यात्वी में (ज्ञान व चारित्र छोड़कर)।

प्रश्न– आत्मा के सात भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– श्रावक में (चारित्र छोड़कर)।

प्रश्न– आत्मा के आठ भेद किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सकषायी में साधु में।

(16) सोलहवें बोले दण्डक चौबीस-

1. सात नारकी का एक दण्डक। सात नारकी के नाम–घम्मा, वंसा, सीला, अंजणा, रिट्ठा, मघा और माघवई। इनके गोत्र–रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और तमतमा प्रभा।

2-11. दस भवनपतियों के दस दण्डक। उनके नाम–1. असुरकुमार, 2. नागकुमार, 3. सुपवर्णकुमार, 4. विद्युत्कुमार,

5. अग्निकुमार, 6. द्वीपकुमार, 7. उदधिकुमार, 8. दिशाकुमार, 9. पवनकुमार, 10. स्तनितकुमार।

12-16. पाँच स्थावरों (पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु, वनस्पति काय) के पाँच दण्डक।

17-19. तीन विकलेन्द्रियों (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) के तीन दण्डक।

20. तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का एक दण्डक।

21. मनुष्य का एक दण्डक।

22. वाणव्यन्तर देवों का एक दण्डक।

23. ज्योतिषी देवों का एक दण्डक।

24. वैमानिक देवों का एक दण्डक।

◆ **आधार**–भगवती सूत्र शतक 24।

दण्डक–अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के स्थान को 'दण्डक' कहते हैं। जहाँ पर जीवों को दण्डित किया जाता हो, उसे भी दण्डक कहते हैं।

दण्ड को भोगने के स्थानों की अपेक्षा से दण्डक चौबीस प्रकार के होते हैं। इन चौबीस दण्डकों में सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

यहाँ सात नारकियों का एक दण्डक तथा दस भवनपतियों के दस दण्डक लिये गये हैं क्योंकि सातों नारकियों के नरकावास अलग-अलग क्षेत्रों में न होकर एक-दूसरे के नीचे है। जबकि भवनपति देवों के निवास स्थान

अलग–अलग क्षेत्रों में हैं तथा इनके इन्द्रादि पदवी, ऋद्धि, वैभव आदि भी पृथक्–पृथक् होते हैं।

इस प्रकार विभिन्न संसारी जीवों में दण्डकों की स्थिति को जानकर प्रत्येक साधक को ऐसा सदाचरण करना चाहिए, जिससे दण्ड भोगने का कारण एवं कार्य दोनों समाप्त हो सके तथा जीव शाश्वत सुखों को प्राप्तकर सके।

प्रश्न– एक दण्डक किनमें पाया जाता है?

उत्तर– साधु में (21वाँ)।

प्रश्न– दो दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– श्रावक में (20–21वाँ)।

प्रश्न– तीन दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– शुक्ल लेश्या में (20–21–24वाँ)।

प्रश्न– चार दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तिर्यञ्च त्रसकाय में (17 से 20)।

प्रश्न– पाँच दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकेन्द्रिय में (12 से 16)।

प्रश्न– छः दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– त्रसकाय नपुंसक वेद में (पहला व 17 से 21)।

प्रश्न– सात दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकान्त अचक्षु दर्शन में (12 से 18)।

प्रश्न– आठ दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकान्त असंज्ञी में (12 से 19)।

प्रश्न– नव दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तिर्यञ्च में (12 से 20)।

प्रश्न– दस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– औदारिक शरीर में (12 से 21)।

प्रश्न– ग्यारह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– नपुंसक वेद में (पहला व 12 से 21)।

प्रश्न– बारह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तिरछा लोक में (12 से 23)।

प्रश्न– तेरह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– देवता में (2 से 11, 22–23–24वाँ)।

प्रश्न– चौदह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– एकान्त वैक्रिय शरीर में (उपर्युक्त तेरह एवं एक नारकी)।

प्रश्न– पन्द्रह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पुरुष वेद में (2 से 11, 20 से 24)।

प्रश्न– सोलह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– संज्ञी में (1 से 11 व 20 से 24)।

प्रश्न– सतरह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– चक्षु दर्शन में (उपर्युक्त सोलह व 19वाँ)।

प्रश्न– अठारह दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तेजो लेश्या में (2 से 14, 20 से 24)।

प्रश्न– उन्नीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– सास्वादन सम्यक्त्व में (1 से 11, 17 से 24)।

प्रश्न– बीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– नीचे लोक के एकान्त छद्मस्थों में, (1 से 20)।

प्रश्न– इक्कीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– नीचे लोक में (1 से 21)।

प्रश्न– बावीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– कृष्ण लेश्या में (1 से 22)।

प्रश्न– तेवीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पृथ्वीकाय की आगत में (2 से 24)।
एकान्त छद्मस्थ में (21वाँ वर्जकर)।

प्रश्न– चौबीस दण्डक किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– अविरति, सकषायी, सलेशी में (1 से 24)।

(17) सतरहवें बोले लेश्या छः–1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. तेजो लेश्या, 5. पद्म लेश्या और 6. शुक्ल लेश्या।

◆ **आधार**–प्रज्ञापना पद 17, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 34।

लेश्या–जो शक्ति आने वाले कर्मों को आत्मा के साथ चिपका देवे, उसको 'लेश्या' कहते हैं। वह शक्ति कषाय और योग से उत्पन्न होती है। जीव के शुभाशुभ परिणामों को भी 'लेश्या' कहते हैं।

कषाय अथवा योग के निमित्त से जीव के होने वाले शुभाशुभ परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं।

लेश्या के दो भेद होते हैं–अप्रशस्त और प्रशस्त।

अप्रशस्त लेश्या के 3 भेद–कृष्ण, नील और कापोत लेश्या।

प्रशस्त लेश्या के 3 भेद–तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या।

दूसरी प्रकार से लेश्या के 2 भेद–द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या।

द्रव्य लेश्या–यह शरीर के वर्णादि के आधार पर होती है। नारकी, देवों में द्रव्य लेश्या जीवन पर्यन्त एक ही प्रकार की रहती है। मनुष्य, तिर्यञ्चों में बदलती रहती है। द्रव्य लेश्या पुद्गलरूप होती है।

भाव लेश्या–यह लेश्या विचाररूप होती है। सभी जीवों में भाव लेश्या परिणामों के साथ बदलती रहती है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से छह लेश्याओं का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार हैं–

1. कृष्ण लेश्या–जिन जीवों के परिणाम अत्यन्त क्रूर एवं निर्दयी होते हैं, जो तीव्र हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों में दिन–रात लगे रहते हैं। दूसरे लोगों को दुःखी करने में ही अपना सुख समझते हैं। ऐसे जीवों के परिणाम 'कृष्ण लेश्या' वाले कहलाते हैं। इनका जीवन धर्म–शून्य होता है। इस लेश्या का वर्ण काजल एवं आँखों की कीकी से भी अधिक काला होता है। रस अत्यन्त कड़वा होता है।

2. नील लेश्या–जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों में रचे–पचे रहते हैं, बहुत समझाने पर उन प्रवृत्तियों में थोड़ी कमी ला पाते हैं। जो धार्मिक भावना से कोसों दूर रहते हैं, ऐसे जीवों के परिणाम 'नील लेश्या' वाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः ईर्ष्यालु, निर्लज्ज, मायावी, मूढ़, प्रमादी एवं रसलोलुपी होते हैं। इसका वर्ण नीले अशोक वृक्ष के समान अथवा नीलमणि के समान नीला होता है। रस अत्यधिक तीखा होता है।

3. कापोत लेश्या–इसका वर्ण अलसी के फूल के समान, कबूतर की गर्दन के समान कुछ लाल और कुछ काला होता है। रस कच्चे आम के रस से अधिक कषैला होता है। इसकी गन्ध अशुभ होती है। कापोत लेश्या वाला जीव आचरण में वक्र, कपटी, अपने दोषों को छिपाने वाला, दुर्वचन बोलने वाला, चोरी एवं द्वेष करने वाला होता है।

4. तेजो लेश्या–इसका वर्ण हींगलू तथा गेरू के समान, उदय हुए सूर्य के समान लाल होता है। इसका रस पके हुये आम के रस की तरह मधुर होता है। गन्ध भी शुभ होती है। तेजो लेश्या वाला जीव विनम्र, चपलता रहित, जितेन्द्रिय, अमायी, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी, पाप से डरने वाला एवं मोक्षपथगामी होता है।

5. पद्म लेश्या–इसका वर्ण हल्दी के टुकड़े तथा पटसन के फूल के समान पीला होता है। इसका रस अधिक मधुरता वाला होता है और गन्ध तेजोलेश्या से कई गुनी अच्छी होती है। पद्म लेश्या वाला अल्प क्रोधी, अल्पमानी, अल्पमायी, अल्पलोभी, प्रशान्तचित्त, आत्मदमनी, जितेन्द्रिय एवं उपशान्त होता है।

6. शुक्ल लेश्या–इसका वर्ण स्फटिक, शंख, दूध की धारा तथा चाँदी के समान सफेद होता है। रस शक्कर से भी अनन्त गुणा मधुर होता है। गन्ध शुभतम एवं स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है। शुक्ल लेशी जीव आर्त्त एवं रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान में एकाग्रचित्त होता है।

प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त होने के कारण प्राय: अधिक पाप कर्म का बन्ध करवाती हैं। इसलिये इन्हें अधर्म लेश्या भी कहा है, अत: इन तीनों का परित्याग करना चाहिए।

शेष तीन लेश्याएँ मनुष्य, देवादि सुगति की दायक हैं। शुक्ल लेश्या में केवल ज्ञान भी प्रकट हो सकता है और यह सिद्ध गति को भी प्राप्त कराती है।

कषायों में थोड़ी सी कमी आते ही लेश्या शुक्ल तक हो सकती है तथा कषायों में थोड़ी वृद्धि होते ही लेश्या कृष्ण तक हो जाती है। फलत: कषायों में मन्द या क्षीण करने का पुरुषार्थ होना चाहिए, ताकि अशुभ लेश्या स्वत: ही छूट जाय एवं शुक्ल लेश्या युक्त रहकर अन्त में अलेशी–सिद्ध पद को प्राप्त कर सकें।

प्रश्न– एक लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– सयोगी केवली में (शुक्ल)।

प्रश्न– दो लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– तीसरी नारकी में (नील, कापोत)।

प्रश्न– तीन लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– तेउकाय में (कृष्ण, नील, कापोत)।

प्रश्न– चार लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– भवनपति, वाणव्यंतर देव में (उपर्युक्त तीन व तेजो)।

प्रश्न– पाँच लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– तीर्थङ्करों की आगत में (कृष्ण को छोड़कर)।

प्रश्न– छ: लेश्या किनमें पायी जाती है?

उत्तर– समुच्चय मनुष्य में।

(18) अठारहवें बोले दृष्टि तीन–1. सम्यग्दृष्टि 2. मिथ्यादृष्टि और 3. सम्यक्–मिथ्या दृष्टि (मिश्रदृष्टि)।

◆ **आधार**–ठाणांग 3 सूत्र 148 पण्णवणा, पद 19।

जीव की अन्तःकरण की प्रवृत्ति को 'दृष्टि' कहते हैं। देव, गुरु, धर्म एवं आत्म–स्वरूप सम्बन्धी जो यथार्थ, अयथार्थ अथवा मिश्रित श्रद्धान होती है, उसे भी दृष्टि कहते हैं। संसार में जितने भी जीव है, उनमें इनमें से एक न एक 'दृष्टि' अवश्य मिलती है।

1. सम्यक् दृष्टि–सम्यक् का तात्पर्य है सही, सच्ची अथवा यथार्थ। दृष्टि का तात्पर्य है देखना, अनुभूति करना, श्रद्धान करना। अर्थात् जीवादि नवतत्त्वों का एवं षट्द्रव्यों का जैसा स्वरूप वीतराग भगवन्तों ने आगमवाणी में कथन किया है, उसे उसी रूप में श्रद्धान करना, मानना 'सम्यक् दृष्टि' है। स्व और पर का भेद–विज्ञान होना अर्थात् आत्म–तत्त्व और जड़–तत्त्व दोनों भिन्न–भिन्न हैं, मेरी आत्मा अलग है, शरीर अलग है, ऐसी अनुभूति करते हुए आत्मपरक श्रद्धान होना 'सम्यक् दृष्टि' है।

2. मिथ्या दृष्टि–जीवादि नवतत्त्वों के स्वरूप के बारे में वास्तविक श्रद्धान न होना, विपरीत अथवा अयथार्थ श्रद्धान होना 'मिथ्या दृष्टि' है। देव, गुरु, धर्म और आत्म–स्वरूप के प्रति अयथार्थ श्रद्धान होना, आत्मा व शरीर को भिन्न नहीं समझकर एक ही रूप मान लेना और इन्द्रिय–विषयों के भोगों को ही जीवन का लक्ष्य बना लेना 'मिथ्या दृष्टि' है। जीव के संसार परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्या दृष्टि होना है।

3. मिश्र दृष्टि–पदार्थ के यथार्थ व अयथार्थ दोनों स्वरूप में अनिर्णय की स्थिति वाले 'मिश्र दृष्टि' कहलाते हैं। वीतराग और रागी का भेद नहीं कर पाते, मोक्ष मार्ग और संसार मार्ग की भिन्नता का भेद नहीं कर पाते, उन जीवों

के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से युक्त तटस्थ परिणामों को 'मिश्र दृष्टि' कहते हैं। इस अवस्था में परिणामों में मिश्रता एवं चंचलता होने से न तो अगले भव की आयुष्य का बंध होता है और न ही जीव मृत्यु को प्राप्त होता है।

इन तीनों दृष्टियों में सम्यक् दृष्टि ज्ञेय एवं उपादेय है, जबकि मिथ्या एवं मिश्र दृष्टि ज्ञेय एवं हेय है।

सम्यक् दृष्टि ऐसी नींव है, जिस पर तप-संयमरूप धर्म का भव्य महल खड़ा किया जा सकता है। सम्यग्दृष्टि ही ऐसा साधन है जिससे ज्ञान व आचरण के कदम हमें मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं।

प्रश्न– एक दृष्टि किनमें पाई जाती है?

उत्तर– अभवी में (मिथ्यादृष्टि)।

प्रश्न– दो दृष्टि किनमें पाई जाती है?

उत्तर– देव कुरु, उत्तर कुरु, युगलियों में (मिश्रदृष्टि को छोड़कर)।

प्रश्न– तीन दृष्टि किनमें पाई जाती है?

उत्तर– पर्याप्त संज्ञी जीवों में।

(19) उन्नीसवें बोले ध्यान चार-

1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान।

◆ **आधार–** भगवती शतक 25 उद्देशक 7, ठाणांग 4 सूत्र 247, समवायांग 4, ठा. 5 सूत्र, 441।

ध्यान–मन, वचन और काय को किसी एक विषय पर एकाग्र करना अथवा केन्द्रित करना 'ध्यान' कहलाता है।

किसी भी कार्य में जब स्थिर अध्यवसाय हो जाते हैं तो उसे भी 'ध्यान' कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त्त के लिए एक विषय के बारे में एकाग्र होकर चिंता निरोध करना 'ध्यान' कहलाता है।

'ध्यान' के चार भेद–

(1) आर्त्तध्यान–आर्त्त का अर्थ है–पीड़ा अथवा वेदना। अनुकूलता में कमी होने पर तथा प्रतिकूलता आने पर संसारी जीवों को प्राय: पीड़ा अनुभव होती है। उस समय अपने मन, वचन व शरीर को एकाग्र करके पीड़ा के कारणों पर विचार करते रहना 'आर्त्तध्यान' है। जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, व्यक्ति के अनुकूल लगती है, उसे इष्ट कहा गया है। इष्ट हमेशा हमारे पास सुरक्षित रहे, अनिष्ट सदा हमसे दूर रहे, इसके लिए योजनाएँ और कार्यक्रम बनाने में तल्लीन रहना 'आर्त्तध्यान' है।

(2) रौद्रध्यान–रौद्र का अर्थ है–रुद्रभाव, क्रूरता के भाव, हिंसा के भाव। हिंसादि, दुष्ट आचरण का चिंतन करना, 'रौद्रध्यान' कहलाता है। हिंसादि विषयों का क्रूर परिणाम 'रौद्रध्यान' कहलाता है अर्थात् प्राणियों को मारने–पीटने एवं दु:खी करने का चिन्तन करना, असत्य वचन बोलकर दूसरों को दु:खी करने का चिन्तन करना। तीव्र, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर चोरी करने का चिन्तन करना। शब्दादि पाँच विषयों के साधनभूत, धन, स्त्री आदि के रक्षण का चिन्तन करना 'रौद्रध्यान' है। इस ध्यान में क्रूरता के कारण द्वेष के परिणाम अधिक मात्रा में होते हैं तथा अपने लोगों के साथ तीव्र आसक्ति होने से परिणाम रागात्मक भी हो जाते हैं।

3. धर्मध्यान–आत्मा को शुद्ध बनाने वाले ध्यान को 'धर्मध्यान' कहते हैं। वीतराग देव की आज्ञा को सत्य मानकर तत्त्वों का चिन्तन करना,

राग–द्वेष आदि पापों एवं उनके विपाक (फल) का चिन्तन करना, कर्म के कटु फल का चिन्तन करना, लोक के आकार का चिन्तन करना, आत्म–स्वरूप का चिन्तन करना आदि 'धर्मध्यान' कहलाता है।

षट्द्रव्यों का उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यरूप त्रिपदी का चिन्तन करना 'धर्मध्यान' है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मोक्ष–मार्ग का स्वरूप समझकर अपने मन, वचन, काया को एकाग्र करके निरीक्षण, परीक्षण करते हैं। कर्म के फल, भावनाओं का स्वरूप और स्वाध्याय के भेदों के आधार पर विचार करते हैं। संसार की असारता का एकाग्र चिन्तन करना भी धर्मध्यान में समाहित है।

4. शुक्लध्यान–मन के परिणामों की स्थिरता एवं योगों का निरोध करना 'शुक्ल ध्यान' कहलाता है। शुक्ल अर्थात् निर्मल आत्म–स्वरूप का, आत्मा की विविध पर्यायों का, पर्याय बनने के अन्तरंग व बाह्य निमित्तों का एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करना तथा अपने आत्म–स्वरूप में लीन होना 'शुक्ल ध्यान' है। दूसरे शब्दों में शरीर का छेदन–भेदन होने पर भी आत्म–स्वरूप में स्थिर हुआ चित्त लेशमात्र भी चलित नहीं होता हो, उसे 'शुक्ल ध्यान' कहते हैं। जो ध्यान कर्म–मल को तीव्र गति से दूर करता है वह भी 'शुक्ल ध्यान' है। पर आलम्बन के बिना निर्मल आत्मस्वरूप का अखण्ड अनुभव 'शुक्ल ध्यान' है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों कर्म–बंधन के हेतु और आत्मा को विषम भावरूपी विभावों में भटकाने वाले होने से 'अप्रशस्त' ध्यान कहलाते हैं। धर्म व शुक्ल ध्यान स्वभाव दशा की ओर ले जाने में सहायक बनने के कारण 'प्रशस्त ध्यान' कहलाते हैं।

महत्त्व–इन चारों ध्यान में आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान कर्मबंधन एवं संसार वृद्धि के कारण होने से जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। जबकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, संवर और निर्जरा के कारण होने से संसार परिमित करने वाले हैं, अत: ये जानकर आचरण करने योग्य हैं।

प्रश्न– एक ध्यान किनमें पाया जाता है?

उत्तर– सयोगी केवली में (शुक्ल)।

प्रश्न– दो ध्यान किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– प्रमत्त संयति में (आर्त्त व धर्म)।

प्रश्न– तीन ध्यान किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– श्रावक में (प्रथम तीन)।

प्रश्न– चार ध्यान किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मनुष्य में।

(20) बीसवें बोले षट्द्रव्यों के तीस भेद–

छ: द्रव्यों के नाम–1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. कालद्रव्य, 5. जीवास्तिकाय और 6. पुद्‌गलास्तिकाय।

◆ **आधार**– भगवती शतक 2 उद्देशक 10, उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28 गाथा 7–8।

द्रव्य–''गुण: पर्यायवद् द्रव्यम्'' अर्थात्–गुण और पर्यायों के समूह को 'द्रव्य' कहते हैं। इस संसार में कुल छ: द्रव्य होते हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी–अपनी मौलिक विशेषताएँ होती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर ही द्रव्यों की पहचान होती है, जिन्हें विशेष गुण के नाम से भी कहा जाता है।

प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त होता है। गुण शाश्वत् होते हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता जबकि पर्याय निरन्तर बदलती रहती हैं। पर्याएँ स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से दो प्रकार की होती हैं। स्वाभाविक पर्यायें प्रत्येक द्रव्य में सदैव रहती हैं, परन्तु वे स्वभाव रूप होने से हमारे देखने में नहीं आ पाती हैं। जबकि वैभाविक पर्यायें जो स्थूल रूप में होती हैं वे हमें दृष्टिगोचर होती हैं।

गुण को ध्रुव (शाश्वत) तथा पर्याय को उत्पाद–व्यय युक्त कहा जा सकता है। ये तीनों द्रव्य के लक्षण कहलाते हैं।

1. धर्मास्तिकाय के 5 भेद–

1. द्रव्य से–एक द्रव्य। 2. क्षेत्र से–सम्पूर्ण लोक प्रमाण। 3. काल से–आदि अन्त रहित। 4. भाव से–वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। 5. गुण से–चलन गुण। पानी में मछली का दृष्टान्त। जैसे–पानी के आधार से मछली चलती है, वैसे ही जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय के आधार से चलते हैं। जीवों के आगमन–गमन, बोलना–चलना, पलकों का झपकना या ऐसे ही मन, वाणी एवं शरीर की सभी प्रवृत्तियाँ धर्मास्किाय के निमित्त से सम्पन्न होती हैं।

जिस प्रकार मछली पानी के बिना चल नहीं सकती, परन्तु पानी मछली को जबरदस्ती चला नहीं सकता। मछली अपनी शक्ति से ही चलेगी परन्तु चलने में पानी सहायक अवश्य होगा, ठीक इसी प्रकार धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को जबरन नहीं चलाती, गति नहीं कराती, परन्तु गति करने में उदासीन निमित्त अवश्य बनती है।

2. अधर्मास्तिकाय के 5 भेद–

1. द्रव्य से–एक द्रव्य, 2. क्षेत्र से–सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से–आदि अन्त रहित, 4. भाव से–वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। 5. गुण से–स्थिर गुण। थके हुए पथिक को छाया का दृष्टान्त। जिस प्रकार से थके हुए पथिक के रूकने–ठहरने में छाया निमित्त–सहायक बनती है, उसी प्रकार ठहरे हुए जीव और पुद्गल में अधर्मास्तिकाय सहायक बनती है। वृक्ष आदि की छाया पथिक को जबरन नहीं रोक सकती, परन्तु थके हुए पथिक के रुकने में निमित्त अवश्य बनती है। ठीक इसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में, ठहरने में अधर्मास्तिकाय निमित्त अवश्य बनती है, परन्तु जबरन जीव और पुद्गल की गति को रोक नहीं सकती, स्थिर नहीं कर सकती।

3. आकाशास्तिकाय के 5 भेद–

1. द्रव्य से–एक द्रव्य, 2. क्षेत्र से–लोकालोक प्रमाण, 3. काल से–आदि अन्तरहित, 4. भाव से–वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकालोकव्यापी, लोक की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी व अलोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी, 5. गुण से–अवगाहन गुण। स्थान (पोलार) देने का गुण। भींत में खूँटी का दृष्टान्त।

यह द्रव्य धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल इन सभी को अवकाश (स्थान) देता है। ये सभी आकाश द्रव्य पर स्थिर रहते हैं जबकि आकाश द्रव्य स्वयं अपने आप पर (स्वप्रतिष्ठ) रहा हुआ है।

4. काल द्रव्य के 5 भेद–

1. द्रव्य से–अनन्त द्रव्य (एक काल अनन्त द्रव्यों पर प्रवर्ते), 2. क्षेत्र से–अढ़ाई द्वीप प्रमाण, 3. काल से–आदि अन्त रहित, 4. भाव से–वर्ण

नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, अढ़ाई द्वीप प्रमाण, अप्रदेशी। 5. गुण से–वर्तन गुण, कपड़े और कैंची का दृष्टान्त। वर्तन–परिवर्तन काल का लक्षण है। नये को पुराना करे, पुराने को नष्ट करे। प्रदेश रहित होने से काल अस्तिकाय नहीं है।

5. जीवास्तिकाय के 5 भेद–

1. द्रव्य से–अनन्त द्रव्य, 2. क्षेत्र से–सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से–आदि अन्त रहित, 4. भाव से– वर्ण नहीं, गन्ध नही, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, जीव, शाश्वत्, लोकव्यापी, एक जीव की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी तथा अनन्त जीवों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है। 5. गुण से–उपयोग गुण। चन्द्रमा की कला का दृष्टान्त। जैसे आवरण के कारण चन्द्रमा न्यूनाधिक प्रकाशित होता है। वैसे ही ज्ञानावरणादि के कारण आत्मा का उपयोग गुण न्यूनाधिक प्रकट होता है।

6. पुद्गलास्तिकाय के 5 भेद–

1. द्रव्य से–अनन्त द्रव्य, 2. क्षेत्र से–सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से–आदि अन्त रहित, 4. भाव से–वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त, रूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी तथा 5. गुण से–पूरण, गलन, विध्वंसन गुण। दृष्टान्त–आकाश में बादलों का मिलना व बिखरना।

बादल की तरह पुद्गल भी मिलते और बिखरते रहते हैं, क्योंकि जो वस्तु पूर्ण होती रहे और गलती रहे, कम होती रहे, उसे 'पुद्गल' कहते हैं। संसार में जो भी वस्तुएँ हमें दिखाई देती हैं, वे सभी पुद्गल का एक अंश हैं।

षट्द्रव्यों की विशेष जानकारी–

1. छह द्रव्यों में प्रथम चार द्रव्य निष्क्रिय एवं उदासीन कहलाते हैं। ये सदैव अपने स्वभाविक रूप में ही रहते हैं। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय व प्रेरक हैं अर्थात् इन दोनों में स्वभाव व विभाव दोनों प्रकार का परिणमन होता रहता है। पुद्गल में परमाणु स्वभावरूप तथा स्कन्ध आदि विभावरूप हैं। जीव में नरकादि पर्याय विभावरूप तथा सिद्ध अवस्था स्वभावरूप है। पुद्गल स्वभाव से विभाव में तथा विभाव से स्वभाव में आता–जाता रहता है। जबकि जीव द्रव्य में यह विशेषता है कि यदि जीव एक बार कर्मों से मुक्त होकर परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव को प्रकट कर लेता है तो फिर वह हमेशा स्वभाव दशा में ही रहता है। विभाव में कभी भी नहीं आता।
2. छह द्रव्यों में से पाँच द्रव्य अजीव व एक जीवास्तिकाय जीव है।
3. छह द्रव्यों में से पाँच द्रव्य अरूपी व एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।
4. छह द्रव्यों में प्रथम तीन द्रव्य एक–एक है जबकि शेष तीन द्रव्य अनन्त हैं।
5. छह द्रव्यों में प्रथम चार द्रव्य अरूपी अजीव कहलाते हैं।
6. छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म, लोकाकाश तथा एक जीव के प्रदेश ये सभी असंख्यात होते हैं, एक समान होते हैं। जबकि अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त होते हैं। काल द्रव्य अप्रदेशी होता है, क्योंकि काल के अणु आपस में एक–दूसरे से मिल नहीं पाते, वे स्वतन्त्र ही रहते हैं। स्वतन्त्र रहने के कारण प्रदेशों का समूह नहीं बन पाता है। इस कारण से काल द्रव्य को अप्रदेशी कहा गया है।

प्रश्न– एक द्रव्य कहाँ पाया जाता है?

उत्तर– अलोक में (आकाश)।

प्रश्न– दो द्रव्य कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– विभावपरिणामी में (जीव और पुद्‌गल)।

प्रश्न– तीन द्रव्य कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– अनन्त द्रव्य में (आकाश, जीव, पुद्‌गल)।

द्रव्य (गिनती) की अपेक्षा एक–एक द्रव्य में (धर्म, अधर्म, आकाश)।

प्रश्न– चार द्रव्य कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– अरूपी अजीव में (धर्म, अधर्म, आकाश, काल)।

प्रश्न– पाँच द्रव्य कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– अजीव में (जीव को छोड़कर)।

प्रश्न– छः द्रव्य कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर– संसार में (सभी द्रव्य)।

(21) इक्कीसवें बोले राशि दो–1. जीव राशि 2. अजीव राशि।

◆ **आधार**–ठाणांग 2, समवा. 2, उत्तरा. अ. 26।

जीव राशि–जीवों के समूह को 'जीव राशि' कहते हैं। जीव से तात्पर्य ऐसे पदार्थ से है, जिसमें उपयोग का गुण विद्यमान हो अर्थात् जानने, देखने एवं अनुभव करने का गुण सदैव पाया जाता हो, जो सचेतन हो।

अजीव राशि–अजीवों के समूह को 'अजीव राशि' कहते हैं।

जीव राशि के 563 भेद तथा अजीव राशि के 560 भेद बतलाये गये हैं।

जीव राशि के 563 भेद–

नारकी के 14 भेद–

सात नारकी के अपर्याप्त और पर्याप्त।

तिर्यञ्च के 48 भेद–

पृथ्वी, अप्, तैजस और वायु इन चार प्रकार के स्थावर जीवों के प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर तथा अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे चार भेदों से कुल 16 भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक, इन तीन के अपर्याप्त और पर्याप्त, ये 6 भेद हुए। इस प्रकार एकेन्द्रिय के कुल 22 भेद हुए।

बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय, इन तीन विकलेन्द्रिय के अपर्याप्त और पर्याप्त, ऐसे 6 भेद हुए।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय पाँच प्रकार के हैं–1. जलचर, 2. स्थलचर, 3. खेचर, 4. उरपरिसर्प और 5. भुजपरिसर्प। ये पाँच ही असंज्ञी और पाँच संज्ञी। ये 10 भेद हुए और इनके अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे 20 भेद हुए।

मनुष्य के 303 भेद–

कर्मभूमिज मनुष्य के 15 भेद हैं। यथा–5 भरत, 5 ऐरवत और 5 महाविदेह में उत्पन्न मनुष्यों के 15 भेद।

अकर्मभूमिज (भोग–भूमिज) मनुष्य के 30 भेद हैं। यथा–5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 हरिवास, 5 रम्यक्वास, 5 हैमवत और 5 ऐरण्यवत, इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के 30 भेद।

56 अन्तरद्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के 56 भेद।

ये सभी मिलाकर गर्भज–मनुष्य के 101 (15 + 30 + 56) भेद होते हैं। अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से 202 भेद होते हैं और इन 101 गर्भज मनुष्यों की अशुचि में उत्पन्न सम्मूर्च्छिम मनुष्य (अपर्याप्त) के 101 भेद इस प्रकार कुल मिलाकर मनुष्य के 303 भेद होते हैं।

देव के 198 भेद–

10 भवनपति–10 असुरकुमारादि।

15 परमाधार्मिक 1. अम्ब, 2. अम्बरीष, 3. श्याम, 4. सबल, 5. रौद्र, 6. महारौद्र, 7. काल, 8. महाकाल, 9. असिपत्र, 10. धनुष, 11. कुंभ, 12. वालुका, 13. वैतरणी, 14. खरस्वर और 15. महाघोष। इनकी स्थिति भवनपति देवों के साथ होने से इन्हें भी भवनपति कहते हैं।

16 वाणव्यन्तर–पिशाचादि (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व) आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कंदे, महाकंदे, कुहण्डे, पयंगदेव)। **10 जृम्भक**–1. अन्न जृम्भक, 2. पान जृम्भक, 3. वस्त्र जृम्भक, 4. लयण जृम्भक, 5. शयन जृम्भक, 6. पुष्प जृम्भक, 7. फल जृम्भक 8. पुष्पफल जृम्भक, 9. विद्या जृम्भक, 10. अव्यक्त जृम्भक। इनकी स्थिति वाणव्यन्तर के साथ होने से इन्हें वाणव्यन्तर भी कहते हैं।

10 ज्योतिषी–1. चन्द्र, 2. सूर्य, 3. ग्रह, 4. नक्षत्र और 5. तारा। ये 5 चर और 5 अचर। कुल 10 भेद।

38 वैमानिक–12 देवलोक–1. सौधर्म, 2. ईशान, 3. सनत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्मलोक, 6. लान्तक, 7. महाशुक्र, 8. सहस्रार, 9. आणत, 10. प्राणत, 11. आरण और 12 अच्युत।

3 किल्विषिक–1. त्रिपल्योपमिक, 2. त्रिसागरिक और 3. त्रयोदश–सागरिक।

9 लोकान्तिक–1. सारस्वत, 2. आदित्य, 3. वह्नि, 4. वरुण, 5. गर्दतोय 6. तुषित, 7. अव्याबाध, 8. आग्नेय और 9. अरिष्ट।

9 ग्रैवेयक–1. भद्र, 2. सुभद्र, 3. सुजात, 4. सुमनस, 5. सुदर्शन, 6. प्रियदर्शन, 7. आमोह, 8. सुप्रतिबद्ध और 9. यशोधर।

5 अनुत्तरवैमानिक–1. विजय, 2. वैजयन्त, 3. जयन्त, 4. अपराजित और 5. सर्वार्थसिद्ध।

ये कुल मिलाकर 99 (10 + 15 + 16 +10 + 10 + 38) भेद हुए। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के 198 भेद होते हैं।

अजीव राशि के 560 भेद–

अरूपी अजीव के 30 और रूपी अजीव के 530, इस तरह 560 भेद हैं।

अरूपी अजीव के 30 भेद–धर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध (सम्पूर्ण वस्तु) देश (दो तीन आदि कल्पित भाग), प्रदेश (स्कन्ध से संलग्न सूक्ष्म अंश जिसका दूसरा भाग नहीं हो सके) अधर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश और प्रदेश। आकाशास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश और प्रदेश तथा कालद्रव्य, इस प्रकार 10 भेद हुए।

धर्मास्तिकाय के पाँच भेद–1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5 गुण। अधर्मास्तिकाय के पाँच भेद–1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। आकाशास्तिकाय के पाँच भेद–1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव

और 5. गुण। कालद्रव्य के 5 भेद–1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। ये 20 और ऊपर के 10, ऐसे कुल 30 भेद हुए।

रूपी अजीव के 530 भेद–

पाँच वर्ण के 100 भेद–काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत इन पाँच वर्णों में प्रत्येक के 2 गंध, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान इन 20 भेदों से गुणा करने पर 20 × 5 = 100 भेद हुए।

दो गंध के 46 भेद–सुगंध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 23 भेदों से गुणा करने पर 23 ×-2 = 46 भेद हुए।

पाँच रस के 100 भेद–तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 8 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 20 भेदों से गुणा करने पर 20 ×-5 = 100 भेद हुए।

आठ स्पर्श के 184 भेद–कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष इन आठ स्पर्शों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस, 6 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 23 भेदों से गुणा करने पर 23 × 8 = 184 भेद हुए।

पाँच संस्थान के 100 भेद–परिमण्डल–थाली अथवा चूड़ी के आकार का गोल। वृत्त–गेंद के आकार का गोल। त्रिभुज–सिंघाड़े अथवा तिपाये के समान। चौकोर–चौकी, पट्टी आदि के समान। आयत–रस्सी, डण्डे आदि के समान लम्बा। इन पाँच संस्थानों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस और 8 स्पर्श। इन 20 भेदों से गुणा करने पर 20 × 5 = 100 भेद हुए। ऐसे कुल (100+46+100+184 +100) 530 भेद हुए।

जीव कभी भी अजीव नहीं बन सकता तथा अजीव कभी भी जीव नहीं हो सकता।

प्रश्न– एक राशि कहाँ पायी जाती है?

उत्तर– अलोक में (अजीव)।

प्रश्न– दो राशि कहाँ पायी जाती है?

उत्तर– लोक में (जीव, अजीव)।

(22) बावीसवें बोले श्रावकजी के बारह व्रत–

1. पहले अहिंसा व्रत में श्रावकजी त्रस जीव को संकल्प–पूर्वक मारे नहीं, मरावे नहीं, मन, वचन और काय से।
2. दूसरे सत्य व्रत में श्रावकजी मोटा (स्थूल) झूठ बोले नहीं, बोलावे नहीं, मन, वचन और काया से।
3. तीसरे अचौर्य व्रत में श्रावकजी स्थूल चोरी करे नहीं, करावे नहीं, मन, वचन और काय से।
4. चौथे परदार विवर्जन एवं स्वदार संतोष व्रत में* श्रावकजी पर–स्त्री सेवन का त्याग करे और अपनी स्त्री की मर्यादा करें।
5. पाँचवे परिग्रह विरमण व्रत में श्रावकजी परिग्रह की मर्यादा करें।
6. छठे दिशा परिमाण व्रत में श्रावकजी छह दिशा की मर्यादा करें।
7. सातवें उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत में श्रावकजी छब्बीस बोलों की मर्यादा करें और पन्द्रह कर्मादान का त्याग करें।

---

* श्राविकाएँ–पर पुरुष विवर्जन एवं स्वपति सन्तोष व्रत में, इस प्रकार बोलें।

8. आठवें अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत में श्रावक जी अनर्थ-दण्ड का त्याग करें।

9. नौवें सामायिक व्रत में श्रावकजी प्रतिदिन शुद्ध सामायिक करें। (सामायिक का नियम रखें)।

10. दशवें देशावगासिक व्रत में श्रावकजी देशावगासिक व्रत करें, संवर करें, चौदह नियम चितारें।

11. ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत में श्रावकजी प्रतिपूर्ण पौषध आदि करें।

12. बारहवें अतिथिसंविभाग व्रत में श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रतिदिन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से जो निर्दोष हों उन्हें देवें।

◆ **आधार**- उपासक दशांग अ. 1, हरिभद्रीय आवश्यक अध्ययन 1।

व्रत-माया, निदान व मिथ्यादर्शन शल्य से रहित होकर त्याग व मर्यादा में अवस्थित होना 'व्रत' कहलाता है। मैं अमुक पाप नहीं करूँगा, इस प्रकार हिंसादि का प्रत्याख्यान करना 'व्रत' कहलाता है। इच्छा, वांछा, कामना आदि का सोच-समझकर, विवेकपूर्वक त्याग करना, प्रतिज्ञा ग्रहण करना विरति है। यह विरति दो प्रकार की होती है-

(1) आंशिक विरति (2) पूर्ण विरति।

आंशिक विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाते हैं। जो शल्य रहित होकर व्रत ग्रहण करता है, वहीं सच्चा व्रती होता है।

जो आगार (गृहस्थ) साधक हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि पापों का पूर्णत: त्याग न करके अपनी शक्ति के अनुसार आंशिक त्याग करता है, उसे अणुव्रती, श्रावक, अथवा श्रमणोपासक के नाम से जाना

जाता है। श्रावकों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले बारह व्रतों की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है–

(1) पहले अहिंसा व्रत में श्रावक जी किसी भी त्रस जीव की हिंसा करें नहीं, करावें नहीं, मन, वचन और काया से। श्रावक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पूर्णरूप से बच नहीं सकता, पर अनावश्यक हिंसा को नियन्त्रित कर लेता है। निरपराध त्रस जीवों को जान–बूझकर संकल्पपूर्वक मारने का दो करण, तीन योग से त्याग करता है।

(2) दूसरे सत्य व्रत में श्रावक जी स्थूल झूठ बोलें नहीं, बोलावें नहीं, मन, वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी कन्या–वर सम्बन्धी, गाय आदि पशु सम्बन्धी, जमीन सम्बन्धी, धन–दौलत हड़पने सम्बन्धी, झूठी साक्षी देने सम्बन्धी झूठ बोलने का दो करण, तीन योग से त्याग करते हैं।

(3) तीसरे अचौर्य व्रत में श्रावक जी स्थूल चोरी करें नहीं, करावें नहीं मन, वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी किसी के घर, दुकान आदि में घुसकर धन–दौलत बहुमूल्य उपकरण–कागजात आदि चुराने का दो करण, तीन योग से त्याग करते हैं।

(4) चौथे ब्रह्मचर्य व्रत में श्रावक जी स्व–स्त्री के साथ कुशील सेवन की मर्यादा करें तथा अन्य सभी के साथ कुशील सेवन का त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी देव–देवी सम्बन्धी दो करण, तीन योग से तथा मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी कम से कम एक करण, एक योग से कुशील सेवन का त्याग करते हैं।

(5) पाँचवें अपरिग्रह व्रत में श्रावक जी परिग्रह की मर्यादा कर बाकी

का त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी खेत, जमीन, जायदाद, सोना, चाँदी, धन–नोट, सिक्के आदि, धान्य–अनाज, द्विपद–दास, नौकर, पक्षी आदि, चतुष्पद–गाय, भैंस आदि जानवर, कुविय–पीतल, लोहा आदि, नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह की मर्यादा करके बाकी का त्याग करें।

(6) छट्ठे दिशा परिमाण व्रत में श्रावक जी छहों दिशाओं की मर्यादा करें। इस व्रत में श्रावक जी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची, नीची इन छह दिशाओं एवं विदिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करें।

(7) सातवें उपभोग परिभोग–परिमाण व्रत में श्रावक जी उपभोग–परिभोग सम्बन्धी छब्बीस बोलों की मर्यादा करें, एक करण, तीन योग से तथा पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करें। उपभोग अर्थात् एक बार भोग के काम आने वाली खाने–पीने आदि की वस्तुएँ और परिभोग अर्थात् बार–बार भोग के काम आने वाली जैसे–पहनने, ओढ़ने आदि की वस्तुएँ।

(8) आठवें अनर्थदंड विरमण व्रत में श्रावक जी अनर्थदण्ड का सेवन करें नहीं, करावें नहीं, मन–वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी बिना प्रयोजन होने वाली हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग करते हैं।

(9) नवमें सामायिक व्रत में श्रावक जी प्रतिदिन नियमपूर्वक सामायिक करें। इस व्रत में श्रावक जी प्रतिदिन मन, वचन, काया एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन सप्तविध शुद्धिपूर्वक सामायिक व्रत की दो करण तीन योग से आराधना–साधना करते हैं।

(10) दसवें देशावगासिक व्रत में श्रावक जी प्रतिदिन दिशाओं की मर्यादा कर उसके उपरान्त बाहर जाने तथा पाँच आश्रव सेवन करने का

त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी चौदह नियम, दया व्रत, संवर आदि की आराधना करते हैं।

(11) ग्यारहवें व्रत में श्रावक जी प्रतिपूर्ण पौषध करें। पौषध का अर्थ–तप संयम के गुणों से आत्मा को पुष्ट करना। पौषध व्रत में अशन–पान–खादिम–स्वादिमरूप चारों प्रकार के आहार का त्याग, कुशील सेवन का त्याग, सोना–चाँदी, जेवरात आदि धन तथा धान्य का त्याग, हिंसाकारी शस्त्र आदि का त्याग करके ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना की जाती है। कम से कम सात प्रहर के लिए की जाने वाली दया भी इसी व्रत के अन्तर्गत मानी जाती है।

(12) बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में श्रावक जी साधु–साध्वी को निर्दोष वस्तु का दान देवें। इस व्रत में श्रावक जी अपने घर पधारे हुए साधु एवं साध्वियों को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा, शय्या, तृण–संस्तारक, औषध, भेषज इन चौदह प्रकार की निर्दोष अचित्त वस्तु से प्रतिलाभित कर उनके निर्मल ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना में सहायक बनते हैं। प्रत्येक श्रावक को निर्दोष वस्तु साधु–साध्वियों को देने की भावना भानी (रखनी) चाहिए। उपर्युक्त चौदह प्रकार की वस्तुओं में प्रारंभ की आठ वस्तुएँ अप्रतिहारी अर्थात् वापस नहीं लौटाने योग्य कहलाती हैं तथा अन्तिम छह वस्तुएँ प्रतिहारी अर्थात् वापस लौटाने योग्य कहलाती हैं।

इन बारह व्रतों में प्रथम पाँच अणुव्रत हैं, उसके बाद तीन गुणव्रत और शेष चार शिक्षाव्रत हैं।

इस प्रकार जो साधक इन बारह व्रतों को सही रूप में समझकर, इनका पालन करता है वही सच्चा श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

प्रश्न– ग्यारह व्रत किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– तिर्यञ्च श्रावक में।

प्रश्न– बारह व्रत किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– मनुष्य श्रावक में।

(23) तेईसवें बोले साधुजी के पाँच महाव्रत–

1. अहिंसा महाव्रत, 2. सत्य महाव्रत, 3. अचौर्य महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य महाव्रत और 5. अपरिग्रह महाव्रत।

महाव्रत–हिंसादि सावद्य प्रवृत्तियों का तीन करण तीन योग से त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है। सर्व विरति अर्थात् सम्पूर्ण रीति से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह का त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है।

1. पहले अहिंसा महाव्रत में साधुजी महाराज, त्रस एवं स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करे नहीं, करावे नहीं और करते हुए को भला जाने नहीं, मन–वचन–काया से। तीन करण और तीन योग से किसी भी प्राणी की जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करते। सभी प्राणियों के प्रति दया व करूणा का भाव रखना भी अहिंसा महाव्रत का अनिवार्य अंग है।

2. दूसरे सत्य महाव्रत में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से असत्य वचन (झूठ) बोले नहीं, बोलावे नहीं, बोलते हुए को भला जाने नहीं, मन–वचन–काया से। अर्थात्–तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त असत्य का त्याग कर सत्य महाव्रत को ग्रहण किया जाता है।

3. तीसरे अचौर्य महाव्रत में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से चोरी का त्याग करे तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए। दूसरे शब्दों में ग्राम, नगर या जंगल में छोटी, बड़ी, अल्प कीमत अथवा अधिक कीमत की, सचित्त, अचित्त वस्तु की चोरी करे नहीं, करावे नहीं करते हुए को भला जाने नहीं, मन–वचन–काया से जीवन पर्यन्त। साधु जी महाराज को एक तिनका भी बिना आज्ञा के ग्रहण करना नहीं कल्पता।

4. चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रत में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से मैथुन सेवन करे नहीं, करावे नहीं, करते हुए को भला जाने नहीं, मन–वचन–काया से जीवन पर्यन्त। इस प्रकार तीन करण, तीन योग से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। साधुजी स्त्री जाति का स्पर्श नहीं करते, उनके शृङ्गार की कथा नहीं करते और न ही विकार दृष्टि से देखते हैं।

5. पाँचवें महाव्रत में साधुजी महाराज किसी भी प्रकार का परिग्रह रखे नहीं, रखावे नहीं और रखते हुए को भला जाने नहीं, मन–वचन–काया से जीवन पर्यन्त। इस महाव्रत में अल्प–बहुत, छोटा–बड़ा, सचित्त–अचित्त किसी भी प्रकार का परिग्रह रखने का तीन करण, तीन योग से त्याग किया जाता है। संयम की रक्षा एवं पालना हेतु वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण स्वाध्याय हेतु पुस्तकें आदि जो सामग्री रखी जाती हैं, उन पर भी आसक्ति नहीं रखते।

ये पाँच महाव्रत जीवन पर्यन्त के लिए स्वीकार कर पालन किये जाते

हैं। इसमें कोई छूट नहीं होती इनका कोई नियत घर, स्थानक आदि नहीं होता, इसलिए साधु–साध्वी 'अणगार' कहे जाते हैं। इन महाव्रतों का तीन करण तीन योग से पालन किया जाता है अत: इन्हें सर्व विरति अणगार भी कहते हैं।

(24) चौबीसवें बोले भंग 49 (ऊनपचास)

भंग–विकल्प रचना को 'भंग' कहते हैं। अथवा कोई भी व्रत–नियम, त्याग–प्रत्याख्यान जितने प्रकार के करण–योगों से ग्रहण किया जा सकता है, उन प्रकारों को 'भंग' कहते हैं।

इसमें यह बतलाया गया है कि किसी भी व्रत–नियम को श्रावक–श्राविकाएँ कितनी तरह से धारण कर सकते हैं। ये भंग तीन करण, तीन योग के आधार पर बनाये गये हैं।

करण का अर्थ है–किस दोष का सेवन स्वयं नहीं करना, दूसरों से नहीं कराना और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना।

योग का अर्थ है–मन से वचन से काया से दोष का सेवन नहीं करना।

इन करण और योगों के आधार पर बनने वाले 49 भंग इस प्रकार हैं–

नौ अङ्क–11, 12, 13, 21, 22, 23, 31, 32, 33 इसमें प्रथम अङ्क 'करण' का दूसरा अङ्क योग का सूचक है।

(1 से 9) अंक 11 के भंग नौ। एक करण और एक योग से कहना–1. करूँ नहीं–मनसा, 2. करूँ नहीं–वयसा, 3. करूँ नहीं–कायसा, 4. कराऊँ नहीं–मनसा, 5. कराऊँ नहीं–वयसा, 6. कराऊँ नहीं–कायसा, 7. अनुमोदूँ नहीं–मनसा, 8. अनुमोदूँ नहीं–वयसा, 9. अनुमोदूँ नहीं–कायसा।

(10 से 18) अंक 12 के भंग नौ। एक करण और दो योग से कहना–10. करूँ नहीं–मनसा वयसा, 11. करूँ नहीं–मनसा, कायसा, 12. करूँ नहीं–वयसा, कायसा, 13. कराऊँ नहीं–मनसा, वयसा, 14. कराऊँ नहीं–मनसा, कायसा, 15. कराऊँ नहीं–वयसा, कायसा, 16. अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, 17. अनुमोदूँ नहीं–मनसा, कायसा, 18. अनुमोदूँ नहीं–वयसा, कायसा।

(19 से 21) अंक 13 के भंग तीन। एक करण और तीन योग से कहना–19. करूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा, 20. कराऊँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा, 21. अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा।

(22 से 30) अंक 21 के भंग नौ। दो करण और एक योग से कहना–22. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मनसा, 23. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–वयसा, 24. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–कायसा। 25. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, 26. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, 27. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–कायसा, 28. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, 29. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, 30. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–कायसा।

(31 से 39) अंक 22 के भंग नौ। दो करण और दो योग से कहना–31. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मनसा, वयसा, 32. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मनसा, कायसा, 33. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–वयसा, कायसा, 34. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, 35. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा कायसा, 36. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, कायसा, 37. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, 38. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, कायसा, 39. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, कायसा।

(40 से 42) अंक 23 के भंग तीन। दो करण और तीन योग से कहना–40. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा, 41. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा, 42. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा।

(43 से 45) अंक 31 के भंग तीन। तीन करण और एक योग से कहना–43. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, 44. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, 45. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–कायसा।

(46 से 48) अंक 32 के भंग तीन। तीन करण और दो योग से कहना–46. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, 47. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, कायसा, 48. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–वयसा, कायसा।

(49) अंक 33 का भंग एक। तीन करण और तीन योग से कहना–49. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा।

◆ **आधार**–भगवती सूत्र शतक–8, उद्देशक–5।

इन 49 भंगों में से तीसरा भंग–करूँ नहीं–कायसा से प्राय: संवर व चौथा अणुव्रत ग्रहण किया जाता है। 19वाँ भंग–करूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा से पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ व 10वाँ व्रत ग्रहण किया जाता है। 40वाँ भंग–करूँ नहीं, कराऊँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा से दया, सामायिक, पौषध व्रत ग्रहण किये जाते हैं। साथ ही 1, 2, 3, 4, 8, 9, 10 और 11वाँ व्रत भी इसी भंग से ग्रहण किये जाते हैं।

उनपचासवाँ भंग–करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं–मनसा, वयसा, कायसा से संलेखना ग्रहण की जाती है तथा प्रतिमाधारी श्रावक भी इसी भंग से व्रतों का पालन करते हैं।

श्रावक–श्राविकाओं में उक्त सभी 49 भंग पाये जा सकते हैं। श्रावक–श्राविकाएँ अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार किसी भी भंग से व्रत–नियम–त्याग–प्रत्याख्यान अवश्यमेव धारण एवं पालन करें।

(25) पच्चीसवें बोले चारित्र पाँच-

1. सामायिक चारित्र, 2. छेदोपस्थापनीय चारित्र, 3. परिहार-विशुद्धि चारित्र, 4. सूक्ष्मसंपराय चारित्र और 5. यथाख्यात चारित्र।

◆ **आधार**–ठाणांग–5, सूत्र–428, अनुयोगद्वार।

चारित्र–आत्मा का विभाव से स्वभाव की ओर गति करना 'चारित्र' हैं। जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सके उसे 'चारित्र' कहते हैं। सभी पाप वृत्तियों के त्याग को भी 'चारित्र' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पाप व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर मोक्ष हेतु संयम में जो शुभ या शुद्ध प्रवृत्ति की जाती है, उसी का नाम चारित्र है। चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाले विरति रूप परिणाम को 'चारित्र' कहते हैं।

चारित्र के पाँच भेद इस प्रकार हैं–

1. सामायिक चारित्र–सामायिक शब्द सम् + आय + इक, से बना है। जिसका अर्थ है–राग–द्वेष रहित आय अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र का आना और मोक्षरूप फल का प्राप्त होना। आत्म स्वभाव में, समभाव में स्थिर

होना सामायिक है। राग-द्वेष रहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को 'सामायिक चारित्र' कहते हैं। सर्व-सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना 'सामायिक चारित्र' है। संयम ग्रहण करने पर साधक को सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ही ग्रहण कराया जाता है। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं-

(क) इत्वरिक-अल्प समय के लिए सामायिक चारित्र ग्रहण करना इत्वरिक सामायिक चारित्र है। पहले और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन काल में यह चारित्र होता है। इसका काल जघन्य सात दिन, मध्यम 4 महीने व उत्कृष्ट 6 माह होता है।

(ख) यावत्कथिक-यावज्जीवन की सामायिक को यावत्कथिक सामायिक चारित्र कहते हैं। अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए सामायिक चारित्र ग्रहण करना। यह चारित्र भरत-ऐरवत क्षेत्र में मध्य के 22 तीर्थङ्करों के शासन काल तथा महाविदेह क्षेत्र में पाया जाता है।

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र-महाव्रतों में कोई दोष लगने पर अथवा बड़ी दीक्षा दिलाने पर पुनः महाव्रतों में आरोपित करना 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' है। इसमें पूर्व की दीक्षा पर्याय का छेदन कर पुनः महाव्रतों में उपस्थापन किया जाता है। यह चारित्र प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन काल में होता है। इसके भी दो भेद हैं-

(अ) सातिचार-मूल गुणों का घात होने पर, अत्यधिक दोष लगने पर प्रायश्चित्त स्वरूप दीक्षा पर्याय में कमी करना अथवा नवीन दीक्षा देना (पुरानी दीक्षा पर्याय का छेदन करके) 'सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' कहलाता है।

(ब) निरतिचार–छोटी दीक्षा वालों को जघन्य सात दिन, मध्यम 4 माह, उत्कृष्ट 6 माह बाद बड़ी दीक्षा देना 'निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' है। पूर्व तीर्थङ्कर के शासनवर्ती साधु–साध्वी को भी वर्तमान तीर्थङ्कर के शासन में आने पर उन्हें इस छेदोपस्थापनीय चारित्र में आरोपित किया जाता है।

3. परिहारविशुद्धि चारित्र–यह चारित्र कर्मों का विशेषरूप से परिहार करने, अलग हटाने तथा आत्मा को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया विशेष है। नौ मुनि इस चारित्र की एक साथ आराधना करते हैं। चार साधु छः मास तक तप करते हैं। चार साधु उनकी सेवा करते हैं तथा एक वाचनाचार्य होता है, जिसे आठों साधु वंदना करते हैं। प्रथम छः माह बाद सेवा करने वाले 4 साधु तप करते हैं तथा तप करने वाले सेवा करते हैं, किन्तु वाचनाचार्य वही रहता है। फिर 12 माह बाद वाचनाचार्य 6 माह तक तप करता है। शेष आठ में से सात उनकी सेवा करते हैं। तथा एक वाचनाचार्य बनता हैं। इस प्रकार कुल 18 माह तक यह क्रम चलता है।

तप करने वाले गर्मी में–जघन्य उपवास, मध्यम बेला व उत्कृष्ट तेला, सर्दी में–जघन्य बेला, मध्यम तेला, उत्कृष्ट चौला तथा चातुर्मास में–जघन्य तेला, मध्यम चौला, उत्कृष्ट पचौला (पाँच उपवास) कर पारणा आयम्बिल से करते हैं। वाचनाचार्य व वैयावृत्य करने वाले नित्य भोजी भी हो सकते हैं। किन्तु इनका भोजन भी आयंबिल युक्त होता है।

जो साधु जघन्य नौ पूर्व की तीसरी आचार वत्थु के ज्ञाता हो, कम से कम 20 वर्ष की दीक्षा पर्याय हो तथा आयु 29 वर्ष से कम न हो, वे ही इस

चारित्र का पालन कर सकते हैं। यह चारित्र तीर्थङ्कर प्रभु के पास अथवा जिसने छेदोपस्थापनीय चारित्र की आराधना कर रखी है, उनके सान्निध्य में अंगीकार किया जा सकता है।

4. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र–जिन अणगारों में बादर कषाय का उदय बिल्कुल भी नहीं रहता तथा सूक्ष्म कषाय में भी मात्र संज्वलन लोभ कषाय का ही उदय शेष बचता हो, उन महापुरुषों के चारित्र को 'सूक्ष्म संपराय चारित्र' कहते हैं। इस चारित्र के धारक दो श्रेणि वाले होते हैं। 1. उपशम श्रेणि वाले और 2. क्षपक श्रेणि वाले। यदि उपशम श्रेणि वाले हैं तो वे दशवें से ग्यारहवें गुणस्थान में जाते हैं तथा क्षपक श्रेणि वाले दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में जाते हैं।

5. यथाख्यात चारित्र–राग–द्वेष, कषाय, मोह आदि के उदय से पूर्णत: मुक्त होकर तीर्थङ्कर भगवन्तों द्वारा जो शुद्ध चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसे उसी रूप में आराधन करना, पालना 'यथाख्यात चारित्र' कहलाता है। इस चारित्र के प्रमुख दो भेद इस प्रकार हैं–

(क) उपशान्तकषाय वीतरागी–जिन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय सर्वथा कर्म का उपशम कर दिया है, तथा किसी भी प्रकार के मोह का उदय नहीं है ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु 'उपशान्त कषाय वीतरागी' कहलाते हैं।

(ख) क्षीणकषाय वीतरागी–जिन्होंने मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर दिया है ऐसे बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु 'क्षीणकषाय वीतरागी' कहलाते हैं।

भरत क्षेत्र में वर्तमान समय में सामायिक व छेदोपस्थापनीय ये दो

चारित्र ही पाये जाते हैं। शेष तीन नहीं पाये जाते।

प्रश्न– एक चारित्र किनमें पाया जाता है?

उत्तर– वीतरागी संयमी में (यथाख्यात)।

प्रश्न– दो चारित्र किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– पुलाक निर्ग्रन्थ में (सामायिक–छेदोपस्थापनीय)।

प्रश्न– तीन चारित्र किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– प्रमत्त संयति में (सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि)।

प्रश्न– चार चारित्र किनमें मिलते हैं?

उत्तर– कषाय कुशील में (प्रथम चार)।

प्रश्न– पाँच चारित्र किनमें पाये जाते हैं?

उत्तर– समुच्चय संयति में।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न– 25 बोल कहाँ से लिये गये हैं एवं इनको सर्वप्रथम क्यों सिखाते हैं?

उत्तर– विविध आगमों से 25 बोल लिये गये हैं। ये बोल सभी स्तोकों (थोकड़ों) का मूल हैं इसलिए इन्हें सर्वप्रथम सिखाते हैं। यह जैन दर्शन की कुञ्जी है।

प्रश्न– चारों गति की कम से कम व अधिक से अधिक आयु कितनी होती है?

उत्तर– देव व नरक गति की आयु कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तैतीस सागरोपम की होती है। मनुष्य व तिर्यञ्च की कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक तीन पल्योपम की आयु होती है।

प्रश्न– सन्नी व असन्नी किसे कहते हैं?

उत्तर– मन सहित हो वह सन्नी तथा मन रहित हो वह असन्नी कहलाता है।

प्रश्न– प्रत्येक वनस्पतिकाय किसे कहते हैं?

उत्तर– एक औदारिक शरीर में एक ही जीव हो उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे–पपीता, चीकू, केला, खरबूजा आदि।

प्रश्न– साधारण वनस्पतिकाय किसे कहते हैं?

उत्तर– एक औदारिक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं उसे साधारण

वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे–आलू, प्याज, लहसुन, मूली, गाजर, हल्दी, अदरक आदि।

प्रश्न– क्या साधारण वनस्पतिकाय के सभी जीव भव्य हैं?

उत्तर– नहीं, भव्य–अभव्य दोनों ही प्रकार के होते हैं।

प्रश्न– इन्द्रियों की तरह मन भी ज्ञान का साधन है, फिर उसको इन्द्रिय क्यों नहीं माना गया?

उत्तर– मन, ज्ञान का साधन अवश्य है परन्तु फिर भी रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। अधिकतर मन का कार्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का चिन्तन करना मात्र है अत: उसे इन्द्रिय न मानकर अनिन्द्रिय (इन्द्रिय जैसा) कहा गया है।

प्रश्न– दूसरे बोल में पाँच जातियों में पहले एकेन्द्रिय को लिया गया है। जबकि चौथे बोल में श्रोत्रेन्द्रिय को लिया गया है ऐसा क्यों?

उत्तर– दूसरे बोल में जाति के अन्तर्गत शरीर को आधार बनाया है और शरीर का विकास एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय आदि क्रम से होता है। इसलिए जाति के बोल में एकेन्द्रिय आदि क्रम रखा गया है। जबकि चौथे बोल इन्द्रिय पाँच में ज्ञान प्राप्ति के साधन को आधार बनाया गया है क्योंकि ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन श्रोत्रेन्द्रिय है। इसलिए पहले श्रोत्रेन्द्रिय को लिया गया है।

प्रश्न– स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण और काय बल प्राण में क्या अन्तर है?

उत्तर– स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण से खुरदरा–कोमल–ठण्डा–गर्म आदि स्पर्श को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है। जबकि काय बल प्राण से हलन–चलनादि क्रिया करने की शक्ति प्राप्त होती है।

प्रश्न– सभी शरीरों का मूल शरीर कौन–सा है?

उत्तर– कार्मण शरीर।

प्रश्न– केवलि समुद्घात कब व क्यों होता है?

उत्तर– केवलि भगवान की आयु जब अल्प हो और शेष तीन वेदनीय, नाम व गोत्र इन कर्मों की स्थिति अधिक हो तब तीनों कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए केवली समुद्घात होती है। इसमें मात्र आठ समय लगते हैं।

प्रश्न– उपशम समकित किसे कहते हैं?

उत्तर– अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षयोपशम, उपशम अथवा विसंयोजना होने तथा मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इन तीन प्रकृतियों का उपशम होने से जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे उपशम समकित कहते हैं।

प्रश्न– क्षयोपशम समकित किसे कहते हैं।

उत्तर– अनन्तानुबंधी चतुष्क तथा मिथ्यात्व व मिश्र मोहनीय का क्षय, उपशम, विसंयोजना अथवा क्षयोपशम होना तथा समकित मोहनीय का वेदन होना, क्षयोपशम समकित है।

प्रश्न– क्षायिक समकित किसे कहते हैं?

उत्तर– उपर्युक्त सातों ही प्रकृतियों का आत्यन्तिक (जड़ मूल से) क्षय हो जाना क्षायिक समकित है।

प्रश्न– वेदक सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर– क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम एक समय के वेदन को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति एक समय की होती है।

प्रश्न– चौदह गुणस्थानों में अप्रतिपाति और प्रतिपाति गुणस्थान कितने हैं?

उत्तर– अप्रतिपाति गुणस्थान तीन हैं। (बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ), प्रतिपाति ग्यारह गुणस्थान हैं। (पहले से ग्यारहवें तक)।

प्रश्न– विषय शुभ व अशुभ कैसे होते हैं?

उत्तर– **जीव शब्द–शुभ**–पुण्यात्मा बोलता है तो अच्छा लगता है। **अशुभ**–पापात्मा बोलता है तो बुरा लगता है।

अजीव शब्द–शुभ–सोने चाँदी के आभूषण के गिरने का शब्द प्रिय लगता है। **अशुभ**–दीवार, बर्तन आदि गिरने का शब्द अप्रिय लगता है।

मिश्र शब्द–शुभ–विवाहोत्सव के बाजे अच्छे लगते हैं। **अशुभ**–मृत्यु के अवसर पर बजाये गये बाजे बुरे लगते हैं।

प्रश्न– प्रदेश, देश तथा स्कन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– **प्रदेश**–द्रव्य का वह सूक्ष्म भाग जिसके दूसरे भाग की कल्पना नहीं की जा सके, दूसरा विभाग नहीं किया जा सके तथा जो स्कन्ध के साथ चिपका हुआ हो उसे प्रदेश कहते हैं।

देश–स्कन्ध के विभाग (टुकड़े) को देश कहते हैं।

स्कन्ध–दो या दो से अधिक प्रदेशों का समूह स्कन्ध होता है।

प्रश्न– परमाणु किसे कहते हैं?

उत्तर– पुद्गल के अति सूक्ष्म भाग को जिसका दूसरा हिस्सा न किया जा सके तथा जो स्कन्ध से चिपका न होकर स्वतन्त्र हो, उसे परमाणु कहते हैं।

प्रश्न– परमाणु और प्रदेश में क्या अन्तर है?

उत्तर– प्रदेश–देश और स्कन्ध से संलग्न होता हैं जबकि परमाणु पृथक् (स्वतन्त्र) होता है।

प्रश्न– जीव के उत्पन्न होते समय कौनसी लेश्या होती हैं?

उत्तर– जीव जिस लेश्या में मरता है उसी लेश्या में जन्मता है। लेश्या प्राप्ति के प्रथम व चरम समय में जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। अत: उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त्त तक वही लेश्या रहती है। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद लेश्या बदल जाती है।

प्रश्न– अणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर– अणु अर्थात्–छोटा। जो व्रतों–महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होते हैं तथा कर्मों की स्थिति आदि को छोटा करने में सहायक होने से प्रथम पाँच व्रतों को अणुव्रत कहते हैं।

प्रश्न– गुणव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर– जो अणुव्रतों को गुण अर्थात्–लाभ पहुँचाते हैं अथवा पुष्ट करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं।

प्रश्न– शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर– जैसे कोई व्यक्ति किसी को रत्नादि देता है तो साथ में उसे सुरक्षित रखने की शिक्षा भी देता है, उसी प्रकार आठ व्रतों की सुरक्षा के लिए अन्तिम चार व्रतों की शिक्षा देने के कारण इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रश्न– औषध और भेषज से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– **औषध**–जो एक वस्तु से निर्मित हो। जैसे–हरड़, सौंठ आदि।

भेषज–जो अनेक वस्तुओं के संयोग से निर्मित हो। जैसे–गोली, चूर्ण, त्रिफला तैलादि।

★☆★☆★

परिशिष्ट (ख) अल्पबहुत्व

पच्चीस बोलों की अल्प बहुत्व

- 23 व 25 बोल के जीव परस्पर में तुल्य व सबसे थोड़े (साधु की अपेक्षा)।
- 22 व 24 बोल के जीव तुल्य व असंख्यात गुणे (तिर्यञ्च, श्रावक की अपेक्षा)।
- 19 बोल के जीव असंख्यात गुणा (चारों गति के संज्ञी जीव की अपेक्षा)।
- 13 बोल के जीव अनन्त गुणा (निगोद की अपेक्षा)।
- 4 व 12 बोल के जीव तुल्य व विशेषाधिक (4 गति के छद्मस्थ जीव, 1 से 12 गुणस्थान तक)।
- 8 से 17 बोल के जीव तुल्य व (विशेषाधिक) (4 गति के सयोगी जीव, 1 से 13 गुणस्थान तक)।
- 1-2-3-5-6-7-10-16 बोल के जीव तुल्य व विशेषाधिक (पहले से 14 गुणस्थान तक के संसारी जीव)।
- 9-15-18वें बोल के जीव तुल्य व विशेषाधिक (पहले से 14 गुणस्थान तक संसारी जीव)।
- 14-20-21 बोल के अनन्त (अजीव की अपेक्षा)।

◆◆◆

14 गुणस्थानों में 25 बोल

- ◇ पहले व तीसरे गुणस्थान में 21 बोल पावे-(22 से 25 तक छोड़कर)।
- ◇ दूसरे व चौथे गुणस्थान में 20 बोल पावे-(13 एवं 22 से 25 छोड़कर)।
- ◇ पाँचवें गुणस्थान में 22 बोल पावे-(13, 22, 25 छोड़कर)।
- ◇ छट्ठे से बारहवें गुणस्थानों में 22 बोल पावे-(13, 22, 24 छोड़कर)।
- ◇ तेरहवें गुणस्थान में 20 बोल पावे-(4-12-13-22-24 छोड़कर)।
- ◇ चौदहवें गुणस्थान में 18 बोल पावे-(4-8-12-13-17-22-24 छोड़कर)।

◆◆◆

- **सम्यग्दृष्टि में** - 24 बोल (13वाँ बोल छोड़कर)।
- **श्रावक में** - 22 बोल (13-23-25वाँ बोल छोड़कर)।
- **साधु में** - 22 बोल (13-22-24वाँ बोल छोड़कर)।
- **तीर्थङ्कर में** - 20 बोल (4-12-13-22 व 24वाँ बोल छोड़कर)।
- **सिद्ध में** - 6 बोल (9-14-15-18-20-21वाँ)।

◆◆◆

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
के विविध सेवा सोपान

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन

जैन इतिहास, आगम एवं अन्य सत्साहित्य का प्रकाशन

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान का संचालन

उक्त प्रवृत्तियों में दानी एवं प्रबुद्ध चिन्तकों के रचनात्मक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है।

सम्पर्क सूत्र

मंत्री- सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार

जयपुर-302003 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-2575997, 2571163

फैक्स : 0141-4068798 E-mail : sgpmandal@yahoo.in